हिन्दी में निर्गुण भक्ति–काव्य का इतिहास लेखन : स्वरूप और समस्याएँ

THE HISTORY-WRITING OF NIRGUN BHAKTI-POETRY IN HINDI : FORM AND PROBLEMS

(HINDI MEIN NIRGUN BHAKTI-KAVYA KA ITIHAS LEKHAN : SWAROOP AUR SAMSYAYEN)

पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबंध

प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे
(शोध-निर्देशक)

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
(सह शोध-निर्देशक)

अजय कुमार यादव
(शोधार्थी)

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

(सन् 2017)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated : 02/01/ 2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. thesis entitled ***"THE HISTORY-WRITING OF NIRGUN BHAKTI-POETRY IN HINDI : FORM AND PROBLEMS [HINDI MEIN NIRGUN BHAKTI-KAVYA KA ITIHAS LEKHAN : SWAROOP AUR SAMSYAYEN]"*** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

M. Pandey

Prof. Manager Pandey
(Co-Supervisor)

Ajay

Ajay Kumar Yadav
(Research Scholar)

2.1.2017

Prof. Devendra Kumar Choubey
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. S.M. Anwar Alam
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

समर्पण...

बड़े पिता जी (बबुआ) को,
जिन्होंने अंगुलियाँ पकड़कर चलना सिखाया,

माई व बाबूजी को,

प्रस्तावना

प्रस्तावना

हम ऐसे दौर में रह रहे हैं जहाँ पर विश्वविद्यालय, डाक्टर, वकील, सरकार, पत्रकारिता, धर्म और बैंक सबने अपनी भूमिकाएँ बदल ली हैं और हमें अपने समय को समझने के लिए इन सबकी बदली हुई भूमिकाओं को समझना जरूरी है।* हमारा समय दो त्रयी का समय है। पहली त्रयी- 'उनिभू' (उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण) है और दूसरी त्रयी है- 'विअवि', (विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन) है। इन दोनों त्रयी की विचार योजना की निर्मिति में दो 'अर्थशास्त्रियों की बड़ी भूमिका है'- पहले हैं फ्रेडरिक हाएक (आस्ट्रिया) और दूसरे हैं मिल्टन फ्रीडमैन (शिकागो)। इन दोनों अर्थशास्त्रियों ने अपने चिन्तन में बाजार को केन्द्र में रखा और यह अनायास नहीं होगा कि भारतीय रिजर्व बैंक के पूर्व गर्वनर और अमेरिकी नागरिक रघुराम राजन के अमेरिकी दफ्तर में इन दोनों ही अर्थशास्त्रियों के चित्र टँगे हैं। हमारा समय अर्थशास्त्र और राजनीति के संयुक्त संचालन में है। अर्थशास्त्र और राजनीति के अन्तर्संबंधों ने इस वर्तमान को बहुत कुछ बदल डाला है और अतीत में भी सेंधमारी की है। अतीत में सेंधमारी इतिहास को विकृत करने की कोशिश है इसलिए इतिहास पर अपनी पैनी नजर रखनी होगी। नजर रखने का एक तरीका यह भी हो सकता है कि हम इतिहास से संवाद स्थापित करें। यह शोध संवाद स्थापित करने की प्रक्रिया में एक छोटी-सी पहल है।

---

* "We now live in a nation where doctors destroy health, lawyers destroy justice, universities destroy knowledge, governments destroy freedom, the press destroys information, religion destroys morals, and our banks destroy the economy."

- Chris Hedges

ज्ञान अंतर्अनुशासनिक होता है। उसके अंतर्संबधों के आरंभ और अंत की पहचान करना मुश्किल होता है। साहित्य और इतिहास भी ज्ञान के दो विशिष्ट क्षेत्र है और इनके अंतर्संबंधों की भी जाँच-पड़ताल होती रहती है। जब हम इनके आंतरिक व बाह्य संबंधों की पड़ताल करते हैं तो जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। 'जहाँ साहित्य सृजन-यात्रा की दृष्टि से काल-मुक्त हो सकता है वहीं इतिहास, समाज, व्यवस्था और सत्ता की विभिन्न कालों में मंचित बहुआयामी भूमिका को तथ्यात्मक विशिष्टता प्रदान करता है।' साहित्य और इतिहास दोनों की विपरीत भूमिकाएँ होते हुए भी एक दूसरे पर अवलंबित है। दोनों का स्रोत मानव जीवन है। दोनों का स्रोत समाज का अतीत, वर्तमान और भविष्य है।

जब बात साहित्य के इतिहास लेखन की हो तो साहित्यकार इतिहास के स्थान-काल संबंधी आँकड़ों पर निर्भर साक्ष्यों की पड़ताल करता है। एक अफ्रीकी मान्यता है कि सात पीढ़ियों के बाद इतिहास और मिथक में अन्तर करना मुश्किल हो जाता है, सही भी बात है क्योंकि इतिहास का मिथकीकरण अनेक स्थितियों में होता है। नए प्रमाणों के प्राप्त होने के बावजूद पुराने सिद्धांतों को दोहराने का क्रम जारी रहता है और साहित्य का इतिहास भी इस बात का अपवाद नहीं है।

साहित्येतिहासकार के सामने इतिहास लेखन के समय जो सबसे बड़ी चुनौती होती है वह इतिहास के साथ साहित्य के रिश्ते का संयोजन और इसके संदर्भ में साहित्य की व्याख्या करना होता है। इस प्रक्रिया को करने की अलग-अलग पद्धतियाँ विकसित हुई जिसके आधार पर साहित्य का इतिहास लिखा गया। उस इतिहासकार के सामने इतिहास लिखते समय स्रोत के रूप में इतिहास के तथ्य, साहित्य, समाज का अतीत, वर्तमान, भविष्य, उस लेखक का खुद की आन्तरिक

चुनौतियाँ और उन चुनौतियों पर उस लेखक का अपना एक दृष्टिकोण भी रहता है, जिन सबका सफल संयोजन करना उसके लिए एक चुनौती रहती है। ऐसे में किसी एक सम्पूर्ण इतिहास की परिकल्पना करना बेमानी है। इतिहास दृष्टि परम्परा, साक्ष्यों की विद्यमानता से सम्बद्ध विवेक, सामयिक चिन्तन के विकास आदि के कारण निरन्तर बदलती रहती है। उसमें स्थायी तथा शाश्वत कुछ भी नहीं है इसलिए बार-बार नए साहित्य इतिहास लेखन की जरूरत पड़ती है।

इतिहास खुद में एक नई व्याख्या है और नई इतिहास दृष्टि के अभाव में यह नई व्याख्या संभव नहीं है और नई इतिहास दृष्टि हमेशा समकालीनता की चुनौती से दो-चार करते हुए ही हासिल होती है। प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय भी ऐसा ही कुछ मानते है- 'साहित्य इतिहास का लक्ष्य व्याख्या की पुनर्व्याख्या करना नहीं है, साहित्य के विकास की केवल जाँच-पड़ताल करना भी नहीं है, बल्कि नई रचनाशीलता के सन्दर्भ में अतीत की रचनाशीलता की प्रासंगिकता का विवेचन करना है।'

भक्तिकाल की कविता के परिवर्तनकारी स्वरूप के अदम्य आकर्षण के कारण इसके इतिहास लेखन की चर्चा थोड़ी उपेक्षित ही रही। ऐसा कह कर मैं भक्तिकाल की कविता के महत्त्व को कम नहीं कर रहा हूँ बल्कि इतिहास लेखन की एक सामान्य प्रवृत्ति की ओर इशारा कर रहा हूँ। भाषा, साहित्य और राष्ट्र संबंधी चिंतन में पिछले कुछ समय से जो परिवर्तन हुए उसने संस्कृति और उसके स्वरूप के पुराने सिद्धान्तों पर कुछ मूलभूत प्रश्न खड़े कर दिए। ऐतिहासिक परिवर्तनों की व्याख्या भी नए आधारों की तलाश कर रही है। ऐसे में साहित्य इतिहास पर भी पुनर्विचार की जरूरत महसूस की जा रही है। यह शोध इन

परिवर्तनों के साथ निर्गुण भक्ति साहित्य इतिहास लेखन पर पुनर्विचार के विभिन्न आयामों को रेखांकित करता है। निर्गुण भक्ति-काव्य के इतिहास लेखन में जो समस्याएँ रही हैं उसके संदर्भ में पूर्वलिखित इतिहासकारों की मौलिक अंतर्दृष्टि और उनकी सीमाओं की चर्चा करते हुए इतिहास लेखन की चुनौतियों को समझने का प्रयास इस शोध में किया गया है।

10वीं शती से लेकर 17वीं शती तक का कालखंड भारतीय समाज का झंझावाती दौर था। विदेशी शक्तियों के आतंक के बीच मध्य देश, उसके सीमावर्ती राज्य एवं दक्षिण भारत के राज्यों में सामान्य जनता तथा राज्यसत्ता का आपसी तालमेल बैठाने में असमर्थता सी दिखाई पड़ती है। भारतीय जनमानस की आस्थावादी प्रवृत्ति से तालमेल न खाने वाले खिलजी, गुलाम, मुगल साम्राज्य के दबाव में सामान्य जनता ने अपने ढंग से मार्ग चुना। वे चाहे निर्गुण रहे हो या सगुण। कुछ आलोचकों ने निर्गुण और सगुण के भेद को भी निरर्थक बताया है। आलोचकों की इस बहस को ध्यान में रखते हुए उनके संबंधों को खोजने का प्रयास भी इस शोध में किया गया है।

दक्षिण भारत में भक्ति के प्रचार के सापेक्ष्य में यह तथ्य विशेष रूप से विचारणीय है कि बौद्ध एवं जैन धर्म के व्यापक प्रचार होने के बावजूद यहाँ उसका अतिक्रमण करते हुए 'भक्ति' एक विशेष शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुई और शैव तथा वैष्णवी आस्था के बीच इसका भी समान विकास हुआ। भक्ति आन्दोलन अपनी सम्पूर्ण व्यापकता के साथ तमिल, तेलगु, मलयालम एवं कन्नड़ प्रदेशों में ही नहीं पूरे भारत, सिन्धु प्रदेश, कश्मीर तथा नेपाल में भी इसका सजगता से प्रचार-प्रसार हुआ। इसी कारण से रामविलास शर्मा ने इसे राष्ट्रीय

लोकजागरण की संज्ञा दी है। विश्वनाथ त्रिपाठी तथा मैनेजर पाण्डेय ने भी इसे राष्ट्रव्यापी लोक आन्दोलन के रूप में स्वीकृति प्रदान की। इतिहासकारों के इस मत का अध्ययन शोध में किया गया है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में भक्ति आन्दोलन का इतिहास हिन्दी प्रदेश और हिन्दी जाति से जोड़कर लिखा गया। इस राष्ट्रीय जनभावना की केन्द्रीय चेतना को हिन्दू जाति पर मुसलमानों के नृशंस आक्रमण एवं अत्याचार से जोड़ने तथा हिन्दी जाति की सांस्कृतिक चेतना की पराभव की उपज बताने में इतिहासकारों की संकीर्णता खुलकर सामने आती है। अगर भाषायी भेद को दर-किनार कर दे तो सम्पूर्ण भारत में भक्ति का संदर्भ लगभग एक जैसा था। हिन्दी प्रदेश में भी भाषिक चेतना में सर्जनात्मक वैविध्य दिखाई पड़ता है लेकिन सबके मूल में भक्ति ही थी और इसे वृहत्तर सन्दर्भ में व्याख्यायित करने की जरूरत है।

समकालीन रचनाशीलता की समझदारी का सवाल एक तरीके से इतिहास की समझदारी को ही चुनौती देती आई है। नामवर सिंह ने सही कहा कि इतिहास की समस्या मूलतः आलोचना की समस्या है और आलोचना हमेशा अपने समकालीन रचनाओं के साथ संवाद में ही विकसित होती है। आलोचना और इतिहास दोनों के लिए चुनौती हमेशा समकालीन रचनाओं से ही मिलती है। इसी क्रम में इतिहास में संभावनाएं भी निर्मित होती है। एक खास दौर के बाद उन रचनाओं के आस-पास आलोचना और इतिहास एक आवरण बना लेता है। तब रचनाओं तक हमारी पहुँच उनकी आलोचना और इतिहास के भीतर से ही हो पाती है। इसलिए रचना का पुनर्पाठ किसी शून्य में न होकर एक प्राप्त सन्दर्भ में ही हो

सकता है। साहित्य का इतिहास एक दोहरी चुनौती है पहले तो रचना तक पहुँचने की चुनौती फिर उस रचना के पाठ की चुनौती। फिर उसके बाद एक नैरेटिव में उसको मुकम्मल जगह देने की चुनौती।

वर्तमान में समकालीनता की सबसे बड़ी चुनौती अस्मिताओं की अभिव्यक्ति का सवाल है जो इस दौर के इतिहास का नियामक परिदृश्य गढ़ रहे है और वे साहित्य में पहली बार अपनी अनुभूति की दावेदारी का प्रश्न उठा रहे हैं। भयरहित सहज अनुभूतियाँ इतिहास में अपनी जगह बनाने में नाकाम रही, नाकाम रहीं या नाकाम कर दिया गया। यह समकालीन इतिहास का एक बड़ा सवाल है। इन्होंने खुद एक ज्ञानमीमांसा विकसित की है जिसे नामवर सिंह के शब्दों में 'अनुभव सम्मत विवेकवाद' कह सकते हैं। यह अनभै साँचा इतिहास में अपनी परंपरा की तलाश कर रहा है। निर्गुण भक्ति काल के संदर्भ में तो यह और जरूरी हो जाता है कि इस परंपरा की तलाश की जाए। कबीर, नामदेव, जयदेव, रैदास, दादूदयाल जैसे कुछ लोगों का नाम ही इतिहास में दर्ज है, इनके अलावा चरणदास, धर्मदास, त्रिलोचन, प्राणनाथ, शेख फरीद, आनंद घन, अक्षर अनन्य, संत तुरसी, धरणीदास, दीन दरवेश, यारी साहब आदि ऐसे भक्त हैं जो निर्गुण भक्ति कविता को नया आयाम देते हैं।

निर्गुण भक्तिकालीन कवियों ने अपनी-अपनी मातृभाषा में रचनाएँ की है लेकिन इतिहासकारों ने इस पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया। मैनेजर पाण्डेय ने इस बात की ओर संकेत किया है। यह भाषिक सन्दर्भ भी इतिहास लेखन में एक दिलचस्प पहलू हो सकता है। इन्हीं कुछ उपरोक्त महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं के आलोक में यह शोध किया गया है।

प्रथम अध्याय में साहित्य का इतिहास लेखन क्या है? साहित्य इतिहास लेखन की जरूरत क्यों है? साहित्य इतिहास लेखन में कौन-कौन सी मुख्य समस्याएँ है तथा क्या एक सम्पूर्ण इतिहास लेखन सम्भव है? इस पर विचार किया गया है तथा हिन्दी में साहित्य इतिहासलेखन की परम्परा का अध्ययन करते हुए कुछ प्रमुख इतिहास ग्रन्थों की विशेषताओं एवं सीमाओं का उल्लेख भी किया गया है। साहित्य इतिहास लेखन में साहित्य के इतिहास को साहित्यिक बनाए रखने की जरूरत क्यों है? इस पर भी विचार करने की कोशिश की गई है।

द्वितीय अध्याय निर्गुण भक्ति काव्य के इतिहास लेखन का अब तक क्या स्वरूप रहा है, इस पर केन्द्रित है। 'निर्गुण' को ऐतिहासिक क्रम में रेखांकित करते हुए भक्ति काल में निर्गुण का क्या स्वरूप रहा है? इसको व्याख्यायित करने की कोशिश की गई है। 'निर्गुण' ब्रह्म किस तरह से उत्तर भारत में साधना का विषय बन गया और उसका किस तरह से निर्गुण कविता में विकास हुआ? इसका अध्ययन करने की कोशिश की गई है। साहित्य इतिहास लेखन में निर्गुण भक्ति को किस तरह से विश्लेषित किया गया है यह भी अध्ययन का बिंदु है, इसी क्रम में निर्गुण भक्ति में ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी भक्ति शाखा का परिचयात्मक विवरण दिया गया है।

तृतीय अध्याय में निर्गुण भक्ति काव्य के इतिहास लेखन में क्या-क्या समस्याएँ रही है, इसका अध्ययन किया जाएगा। मसलन भक्ति पर बात करते हुए सबसे पहली समस्या उसके उदय से संबंधित है। निर्गुण-सगुण विभाजन, निर्गुण के दार्शनिक स्रोत और ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी शाखा के सन्दर्भ में जो समस्याएँ हैं उस पर विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में निर्गुण भक्ति काव्य के इतिहास लेखन की समस्या से संबंधित कुछ और पहलुओं पर विचार किया गया है, जैसे निर्गुण भक्ति काव्य लोकजागरण है कि नहीं? इस पर भी इतिहासकारों में मतभेद है। इसके पक्ष और विपक्ष को व्याख्यायित किया गया है। निर्गुण भक्ति काव्य के लोकजागरण होने में लोकभाषा का कितना महत्त्व है इसको भी विश्लेषित किया गया है। निर्गुण भक्ति कविता के अवसान के क्या कारण रहे और पंथ निर्माण की प्रक्रिया ने निर्गुण भक्ति परम्परा को कितना प्रभावित किया? यह विवेच्य बिंदु है।

पंचम अध्याय में समकालीन विमर्शों के सन्दर्भ में निर्गुण भक्ति काव्य को विवेचित किया गया है। समकालीन विमर्शों के लिए निर्गुण भक्ति काव्य किस तरह से प्रेरणा के रूप में काम करते हैं, यह विश्लेषित करने की कोशिश है।

यहाँ एक बात स्पष्ट करनी जरूरी है कि शोध-प्रबंध के दूसरे अध्याय में निर्गुण भक्ति काव्य का इतिहास लेखन में जो स्वरूप रहा है उसको जस का तस रखने की कोशिश की गई है, फिर तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय में उस स्वरूप में जो समस्याएँ रही हैं उसके संदर्भ में विभिन्न इतिहासकारों के मतों का विश्लेषण करते हुए अपनी बात रखी गई है। उन समस्याओं के संदर्भ में यह शोध कुछ निश्चित निष्कर्ष दे पाया है यह तो नहीं कह सकते लेकिन यह शोध निर्गुण भक्ति के इतिहास लेखन के कुछ सूत्र दे पाए ऐसी कोशिश जरूर की गई है।

आधार ग्रन्थ के चयन के पीछे केवल इसी एक मंशा ने काम किया है कि प्रमुख आधार ग्रन्थ के रूप में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में जिन साहित्य इतिहासों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है अर्थात् जिन साहित्य इतिहासों ने निर्गुण भक्ति काव्य के इतिहास लेखन की दिशा में कुछ नए सूत्र दिए हैं, उन्हें ही शामिल किया गया है।

सर्वप्रथम आभार आकाशधर्मा गुरु प्रो. मैनेजर पाण्डेय का जिन्होंने विषय चयन से लेकर शोध के अन्तिम चरण तक मेरा कुशल मार्गदर्शन किया। उनके मार्गदर्शन में यह शोध इतिहास लेखन के कुछ सूत्र दे पाए ऐसी मेरी कोशिश रही, कितना इस कोशिश में सफल रहा, यह इतिहास ही तय करेगा। आभार प्रो. देवेन्द्र चौबे सर का जिन्होंने इस विषय के बारे में मेरी समझदारी को विकसित किया और मेरी तमाम लापरवाहियों के बावजूद अपना धैर्य बनाए रखा।

आभार बाबूजी और माई का जिनका जीवन ही मेरे लिए प्रेरणा है। आभार बड़ी दीदी, छोटी दीदी, रीमा, सीमा को जो बहन कम मित्र ज्यादा हैं। स्नेह नीलम को जिनका होना मेरा होना है। उन्होंने जीवन में माय़ने पैदा किये हैं।

आभार उन सभी दोस्तों का जिन्होंने जीवन में उत्साह बनाए रखा। मित्र रामानन्द और आशुतोष जिनसे प्रतिस्पर्धा में यह शोध हो पाया है फिर भी आभार नहीं। अनिल सर, आलोक, अनिरुद्ध, रीता, राजीव, रामानुज, अशोक, प्रीति, धवल, अभिषेक, चन्दर, हरि, मीनाक्षी को धन्यवाद। आभार अमर भैया, अनुराग भैया, स्वदेश भैया, दुर्गेश भैया जिनके सुझाव ही मेरे लिए आदेश हैं।

आभार जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की 'प्रति संस्कृति' का जिसने मुझे परिष्कृत किया। शायद यह विश्वविद्यालय न होता तो मैं दिल्ली में पढ़ाई नहीं कर पाता। जे.एन.यू., डी.यू., साहित्य अकादमी, नेहरू मेमोरियल के पुस्तकालय को भी धन्यवाद, जिनके माध्यम से यह शोध सम्भव हो पाया।

नई दिल्ली **अजय कुमार यादव**

2016

अध्याय-विभाजन

प्रस्तावना			**i-ix**
प्रथम अध्याय	:	**साहित्य का इतिहास लेखन**	**1-29**
		1.1 साहित्य का इतिहास लेखन	1
		1.2 हिन्दी में साहित्येतिहास लेखन की परंपरा	16
द्वितीय अध्याय	:	**निर्गुण भक्ति काव्य का इतिहास लेखन**	**30-63**
		2.1 निर्गुण भक्ति काव्य में 'निर्गुण' का स्वरूप	30
		2.2 निर्गुण भक्ति काव्य का इतिहास लेखन	44
		2.3 निर्गुण भक्ति : उद्‌भव	48
		2.4 ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी भक्ति शाखा	57
तृतीय अध्याय	:	**निर्गुण भक्ति काव्य के इतिहास लेखन की समस्याएँ**	**64-122**
		3.1 निर्गुण भक्ति : उद्‌भव	64
		3.2 निर्गुण भक्ति काव्य : दार्शनिक स्रोत	77
		3.3 निर्गुण और सगुण : भेद	90
		3.4 ज्ञानाश्रयी भक्ति शाखा	98
		3.5 प्रेमाश्रयी भक्ति शाखा	106
चतुर्थ अध्याय	:	**निर्गुण भक्ति काव्य और लोकजागरण**	**123-158**
		4.1 निर्गुण भक्ति काव्य : लोकजागरण का प्रश्न	123
		4.2 निर्गुण भक्ति काव्य : भाषा	137
		4.3 पंथ निर्माण की प्रक्रिया : कबीर और नानक पंथ	144
		4.4 निर्गुण भक्ति काव्य : अवसान	149
पंचम अध्याय	:	**निर्गुण भक्ति काव्य और समकालीन विमर्श**	**159-182**
		5.1 निर्गुण भक्ति काव्य और स्त्री विमर्श	159
		5.2 निर्गुण भक्ति काव्य और दलित विमर्श	168
		5.3 निर्गुण भक्ति काव्य और आदिवासी विमर्श	176
उपसंहार			**183-188**
सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची			**189-201**

प्रथम अध्याय

साहित्य का इतिहास लेखन

1.1 साहित्य का इतिहास लेखन

1.2 हिन्दी में साहित्येतिहास लेखन की परंपरा

प्रथम अध्याय
साहित्य का इतिहास लेखन

1.1 साहित्य का इतिहास लेखन

"साहित्य के इतिहास के प्रति दृष्टिकोण बनाने का अर्थ यह है कि एक तो साहित्य के प्रति नया दृष्टिकोण, दूसरा इतिहास के प्रति नया दृष्टिकोण।"

– मैनेजर पाण्डेय

इतिहास अतीत की अर्थवत्ता का बोध कराने वाला प्रत्यय है। इतिहास सामाजिक जीवन का दस्तावेजीकरण है और साहित्य जीवन की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति है। साहित्य इतिहास उस संवेदनात्मक अभिव्यक्ति का सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध अध्ययन है। कोई भी इतिहास या साहित्येतिहास अन्तिम व सम्पूर्ण नहीं हो सकता। नए तथ्यों का अन्वेषण और नई विचारधाराएँ इतिहास को पुनः परिभाषित करने की माँग करती है। साहित्येतिहास के सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि – *"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।"*[1]

रेने वैलेक ने लिखा है – *"साहित्य के इतिहास का प्रयोजन है साहित्य की प्रगति, परंपरा, निरंतरता और विकास की पहचान करना।"*[2]

हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन एक चुनौती भरा कार्य है। इस कार्य को करने की अपनी अलग समस्याएँ है। नया इतिहास लेखन किस पद्धति और दृष्टिकोण से लिखा जाएगा? यह एक अहम सवाल है। हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की समस्याओं पर विचार करने की यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो सकती है कि हम एक ऐसी पद्धति का विकास कर सकें जहाँ वर्ग, जाति, लिंग और धर्म आधारित समस्याओं का वस्तुपरक मूल्यांकन और उनके इतिहास का रेखांकन कर सकें।

साहित्य इतिहास लेखन की दो मुख्य समस्याएँ हैं- *"पहली समस्या तो फार्म की है। क्या कोई भी ऐसा फार्म सम्भव है कि जिसमें इस विषय के असमाधेय अंतर्विरोधों का प्रबंधन हो सके, उसकी एक मुकम्मल संरचना तैयार की जा सके और उसे बेहतर ढंग से प्रस्तुत किया जा सके? और दूसरी समस्या यह कि क्यों साहित्य के इतिहास की व्याख्याएँ असफल होने को अभिशप्त हैं?"*[1] दरअसल यह दोनों ही समस्याएँ साहित्य के विकास की व्याख्या से जुड़ी है कि क्या किसी भी नैरेटिव फार्म में साहित्य के क्रमिक विकास की व्याख्या की जा सकती है? इस प्रश्न पर विचार करते समय दो और मूल प्रश्न खड़े होते हैं कि इतिहास और नैरेटिव का क्या अन्तर्संबंध है और दूसरा क्या साहित्य के इतिहास में क्रमिक विकास की अवधारणा ही काम करती है? इन सभी प्रश्नों पर आगे चर्चा की जाएगी किन्तु उससे पहले हम इतिहास लेखन और इतिहास बोध के निर्माण पर थोड़ी चर्चा करेंगे।

जिसे हम इतिहास लेखन और अंग्रेजी में 'हिस्ट्रिओग्राफी' कहते हैं उसका स्वरूप हमेशा बदलता रहता है। भारत में इतिहास लेखन की शुरुआत औपनिवेशिक

दौर में हुई, इसलिए उनकी आंतरिक निर्मितियाँ भी अंतर्विरोधों से भरी हुई है। आरम्भिक इतिहास लेखन इतिहास से बेदखल लोगों की 'अस्मिता निर्माण' से जुड़ा हुआ प्रयास है और इन प्रयासों की दिशा कितनी सही रही कितनी गलत यह एक जटिल प्रश्न है। हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसा साहित्य इतिहासकार भी उन अंतर्विरोधों से बच न सका।

साहित्य इतिहास की कुछ अपनी विशिष्टताएँ होती है और साहित्य इतिहास लेखन एक विधा के रूप में समाज विज्ञान के दूसरे प्रारूपों से कुछ बेहतर सहूलियतें मुहैया कराता है। साहित्य इतिहास को उन्नीसवीं सदी के पहले पचहत्तर वर्षों में खासी लोकप्रियता मिली। ये इतिहास मुख्य रूप से तीन तरह की मान्यताओं पर लिखे गए थे - *"पहला कि साहित्यिक कृतियाँ अपने ऐतिहासिक संदर्भों में ही बनी थी, दूसरा कि साहित्य में परिवर्तन क्रमिक विकास (Developmentally) के रूप में होता है और तीसरा यह परिवर्तन किसी विचार, मूल्य या अधिवैयक्तिक इयत्ता (Suprapersonal) का प्रकट होना है।"*[1]

क्रमिक विकास पर आधारित इतिहास लेखन यह मानकर चलता है कि घटनाओं में परिवर्तन पूर्वापर होता है और हर घटना का कारण और संदर्भ उसके पहले की घटना होती है। किसी रचना का मूल्यांकन उसके ऐतिहासिक संदर्भ में खोजा जाता है और यह मानकर चला जाता है कि वह संदर्भ रचना के साथ-साथ मौजूद था या ठीक उसके पहले का था। उस रचना का खुद भी कोई सौन्दर्यात्मक मूल्य हो सकता है इसकी पड़ताल करने की कोशिश नहीं हो पाती। हालाँकि बाद में कला के शाश्वत मूल्यों की खोज भी इतिहास लेखन में होने लगी और *अर्नाल्ड हाउजर*[2] ने तो इस पर विशद चिंतन प्रस्तुत किया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में मार्क्सवाद के रूप में हमें इतिहास का एक नया दृष्टिकोण मिलता है। उसके पहले तक इतिहास में परिवर्तनों को भावना और बुद्धि की द्वन्द्वात्मकता के सहारे ही समझने की कोशिशें होती रहीं, मार्क्स ने उन परिवर्तनों के वास्तविक आधारों को मानव समाज के भीतर के उत्पादन सम्बन्धों में ढूँढ निकाला। मार्क्सवादी कला और साहित्य चिंतन ने साहित्य के इतिहास को साहित्य के समाजशास्त्र और साहित्य की सापेक्षिक स्वायत्तता के साथ-साथ देखने की बात लगातार की है।[7]

हिन्दी साहित्येतिहास की समस्याओं को समझने के लिए इन इतिहास दृष्टियों के अंतर को भी समझना होगा। एक ऐसे समय में जब दुनिया के एक कोने से इतिहास के अंत की घोषणा हुई और उसकी प्रतिध्वनि सभी जगह सुनाई देने लगी, ऐसे समय में इतिहास पर चिंतन निहायत ही जरूरी हो जाता है। मार्च 1988 में नामवर सिंह ने जादवपुर विश्वविद्यालय में 'भारत में साहित्य की इतिहासकारी' विषय पर हुए सेमिनार में इतिहासकारी की समस्याओं पर विचार करते हुए मुख्यतः तीन बिंदुओं की तरफ ध्यान दिलाया। पहला है नैरेटिव का संकट (Crisis of Narrative)। यही नैरेटिव का संकट डेविड पर्किन्स की भी चिंता है। चिंता उस नैरेटिव फार्म के तलाश की है जिसमें इतिहास अपना रूप ग्रहण करता है। दूसरा बिन्दु यह है कि क्यों एक आलोचक इतिहास नहीं लिख रहा है यह व्यापक साहित्यिक आलोचना की समस्या है। वे कहते हैं कि *"जब तक नैरेटिव के संकट को दूर नहीं करते हैं तब तक हम इतिहासकारों के संकट की समस्या को हल नहीं कर सकते और यह संकट केवल साहित्य इतिहास या इतिहासकारी का नहीं है बल्कि व्यापक जीवन का संकट है। वर्त्तमान के खो जाने*

का भय और यह भय इतना गहरा है कि मुश्किल से ही कोई भविष्य के बारे में सोच रहा है। दरअसल यह यूटोपिया के खो जाने से जन्मा है जब तक हमें भविष्य का थोड़ा बोध नहीं होगा साहित्य इतिहास क्या, कोई भी इतिहास संभव नहीं होगा।"[8] और आगे तीसरी बात वे कहते हैं कि यह बोध निश्चित रूप से 'प्रैक्सिस' से जुड़ा मसला है। हम बिना इतिहास के निर्माण में हिस्सा लिए भविष्य बोध प्राप्त नहीं कर सकते और इसलिए इतिहास भी नहीं लिख पाएंगे।

इसी भाषण में नामवर सिंह इतिहास को असातत्य में देखने की बात करते हैं। उन्होंने इतिहास लेखन की प्रश्नोत्तरी शैली की सम्भावना भी रखी और कॉलिंगवुड के हवाले से कहा है कि हमें उस स्थिति की, उस विशेष परिस्थिति की या वो प्रश्न कौन से थे जिनके प्रत्युत्तर में एक खास रचना रची गयी, की खोज करनी चाहिए। रचना के भीतर से उन सवालों को पुनर्निर्मित करने की कोशिश की जानी चाहिए। जिसके आधार पर या जिसके प्रत्युत्तर में कृति रची गयी। *"कोई ऐतिहासिक क्षण संभावनाओं से भरा होता है, और कोई टेक्स्ट – बहुत सारे टेक्स्ट – सो मेनी टेक्स्ट आर प्रोड्यूस्ड इन दैट पर्टिकुलर सिचुएशन एज रेस्पान्स एण्ड तब हमें समझ में आएगा कि 16वीं सदी के अंत में और 17वीं सदी के आरम्भ में किन सिचुएशन्स ने बहुत से भक्ति के टेक्स्ट प्रोड्यूस क्यों किए... अगर हम इस तरह से देखें, देन हिस्ट्री बिकम्स 'द हिस्ट्री ऑफ क्वेश्चन्स एण्ड एन्सवर्स' एण्ड इन दिस वे वी शैल वी एबल टू रिकन्सट्रक्ट ए नैरेटिव विच इज एक्चुअली फुल ऑफ सो मेनी ब्रेक्स।"*[9] इस तरह से नामवर सिंह इतिहास नैरेटिव को सातत्य में न देखकर अंतरालों में देखने की सलाह देते हैं।

साहित्य का इतिहास केवल साहित्य का क्रमबद्ध अध्ययन नहीं है बल्कि *"एक साथ तीन इतिहास साहित्य का इतिहास, उसको पैदा करने वाले समाज का इतिहास और जीवित जागृत भाषा का इतिहास।"*[10] साहित्य का इतिहास इन तीनों ही इतिहासों की उपलब्धियों को संजोए रखने का साधन है। जब भी साहित्य के इतिहास पर बात होती है तो केवल साहित्य और इतिहास के अंतर्संबंधों की चर्चा होती है, साहित्य के क्रमिक विकास की व्याख्या होती है और इतिहास को उस व्याख्या में संदर्भ की तरह प्रस्तुत किया जाता है।

शेल्डन पोलक दक्षिण एशिया के साहित्येतिहास लेखन को अब तक *प्रत्यक्षवादी या विधेयवादी* कहते हैं।[11] उन्होंने ध्यान दिलाया है कि दक्षिण एशिया में साहित्य इतिहास अब तक जिस तरह का रहा है उसमें एक प्रविधि के कारण ही बहुत से महत्त्वपूर्ण मुद्दे बाहर रहे। मसलन, किस प्रकार से साहित्यिक भाषाओं का सृजन हुआ, उनके इतिहास किस प्रकार से नैरेट हुए और दोनों की संगति सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से कैसी रही है। उन्होंने लिखा है कि – *"चुनौती यह है कि साहित्य इतिहास को दुबारा कैसे सोचा जाए। जहाँ उन प्रश्नों से वह अपने को बाहर निकाल सके जो यूरोपीय साहित्येतिहास के औपनिवेशिक, विधेयवादी या राष्ट्रवादी प्रतिमानों ने उस पर थोप दिए हैं (रूपवादी और थीमेटिक साहित्येतिहासों को छोड़ भी दे तो) खासकर क्यों और कैसे साहित्यिक भाषाओं का उदय हुआ, किस तरह से कॉस्मोपोलिटन और वर्नाकुलर पहचानों ने एक दूसरे को प्रभावित किया और इस प्रक्रिया में कैसे उनमें बदलाव आया तथा भारतीय उपमहाद्वीप के साहित्य और उनके इतिहास पर सोचने का मतलब क्या है या अब तक कैसे सोचा गया है।"*[12]

दक्षिण एशिया में शुरू से ही अलग-अलग क्षेत्रों में साहित्यिक भाषाओं की उपस्थिति रही है और उनका अभिव्यक्ति के स्थानीय रूपों से लगातार एक गतिशील संबंध रहा है। हिन्दी भाषी क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषाओं-बोलियों के विकास की प्रक्रिया भी एक तरह की नहीं रही है। उनमें विधाओं के उद्‌भव और विकास में अंतर है। हिन्दी भाषी क्षेत्र की भाषाओं में अनेक विधाएँ तो अब तक पैदा ही नहीं हुई हैं। मध्यकालीन भारत में तो संस्कृत, प्राकृत और कुछ हद तक अपभ्रंश ने एक मजबूत चुनौती पेश की। नयी देशी भाषाओं की साहित्य में उपस्थिति के पीछे कौन सी शक्तियाँ काम कर रही थी, उन शक्तियों को पहचानना बहुत जरूरी है। किन परिस्थितियों में किसी बहुभाषी समाज ने साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए किसी खास भाषा को चुना उन परिस्थितियों का अध्ययन भी जरूरी होगा। ये सारे प्रश्न हमें साहित्य इतिहास पर पुनर्विचार के लिए प्रस्तुत करते हैं। साहित्येतिहास उस भाषा का भी इतिहास होता है इसलिए *"साहित्यिक इतिहास की विषय सामग्री किसी भाषा की सर्जनात्मकता और साहित्य सृष्टि है, जिसकी गुणवत्ता का तारतमिक मूल्यांकन भी साहित्यिक इतिहासकार का अतिरिक्त दायित्व है।"*[13] दरअसल साहित्येतिहास लेखक इतिहास के साथ साहित्य के रिश्ते का संयोजन और उसके संदर्भ में साहित्य की व्याख्या को ही मुख्य चुनौती मानता है। जबकि मुख्य चुनौती भाषा के विकास के साथ साहित्य के विकास की व्याख्या करनी है।

अब हम फिर से साहित्येतिहास संबंधी मान्यताओं पर चर्चा करते हैं। साहित्य इतिहास में संदर्भीकरण की समस्या महत्त्वपूर्ण है। किसी पाठ का संदर्भ कैसे समझा जाए यह इतिहास की बड़ी समस्या रही है। आमतौर पर डेविड पर्किन्स जिस बात

की चर्चा करते हैं कि यह मान कर साहित्य इतिहास लिखा जाता है कि उस साहित्य का सन्दर्भ समकालीन समाज में ही होगा। रचना के भीतर उस सामाजिक इतिहास की विशेषताएँ खोजी जाती है। इस तरह की मान्यताओं से प्रभावित होकर हिन्दी में भी साहित्येतिहास लिखा गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी हर काल के साहित्य की व्याख्या और विकास से पूर्व उन ऐतिहासिक सन्दर्भों की विशद् व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जिनमें वह रचना रची गयी है। ऐसा करने से साहित्यिक रचनाओं की महत्ता और अन्य रचनाओं से उसकी भिन्नता की व्याख्या ठीक-ठीक नहीं हो पाती। एक विशेष समय में सामाजिक परिस्थितियाँ एक समान नहीं होती। वह इस हद तक भी समरूप नहीं हो सकती कि किसी भी विचारधारात्मक एकरूपता को हम कलाओं और साहित्य की व्याख्या का आधार बना ले। कहना न होगा कि एक ही समय में हर साहित्यिक कृति का अलग-अलग ऐतिहासिक संदर्भ भी हो सकता है और वे ऐतिहासिक संदर्भ उस समय के अन्य ऐतिहासिक संदर्भों से भिन्न भी हो सकता है। लेकिन *"आमतौर पर यह माना जाता है कि कोई रचनाकार अपने आसपास के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों तथा पहले के साहित्य की विरासत के बीच ही चूँकि रचना करता है इसलिए इन सबका सामान्य परिचय रचना के निर्माण और उसकी महत्ता को साहित्य इतिहास में स्थापित कर देंगे।"*[14] अर्थात् किसी रचना को जिस ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखा जाता है उसके बारे में यह मान लिया जाता है कि वह संदर्भ रचना के साथ-साथ मौजूद है या ठीक उसके पहले का है। मसलन भक्ति काल के उद्भव के संदर्भ में ठीक यही बात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की व्याख्या में देखने को मिलता है। शायद इन्हीं कारणों से एकाएक सभी निर्गुण भक्ति कवि हमें क्रांतिकारी और समाज सुधारक लगने लगते हैं और

सभी सगुण भक्त कवि वर्णव्यवस्था के समर्थक और ब्राह्मणवादी। ऐसा करने में साहित्य इतिहास में उनके अंतर्विरोध और उन अंतर्विरोधों के होने के कारण और प्रक्रिया की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं हो पाती।

साहित्य इतिहास समाज और उस रचनाकार के व्यक्तिगत अंतर्विरोधों का भी इतिहास होता है। नामवर सिंह लिखते हैं *"तुलसी के लोक संग्रह की लम्बी-चौड़ी चर्चा करने वाले भी बस उनके वर्णाश्रम संबंधी विचारों को ही उछालते रह जाते हैं लेकिन क्या उन्होंने तुलसी के अंतर्विरोधों की ओर ध्यान दिया है, उनके शूद्र-विरोधी विचारों और निषाद, शबरी आदि के मार्मिक चित्रणों का अंतर्विरोध तथा उसके कारणों की खोज हुई है। तुलसीदास में तो फिर भी सामाजिक आधार अपेक्षाकृत सहज ही मिल सकता है, परन्तु 'सूरदास' के लीला-पद में जहाँ वास्तविकता का चित्रण और भी गहरे स्तर पर हुआ है ये समाजशास्त्री खूब गोता खाते हैं और इस तरह का फतवा देते हैं कि उन्होंने केवल मनोरंजन किया समाज का मन बहलाया।"*[15] रचनाकार के भी मनुष्य के रूप में कुछ मूल्य होते हैं या वह कुछ मूल्य तय करता है और वे मूल्य उसकी रचना में अभिव्यक्त होते हैं जो ऐतिहासिक संदर्भों से निरपेक्ष भी हो सकता है।

मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि *"'साहित्य का दर्शन' और 'साहित्य का विज्ञान' निर्मित करने वाले आलोचक साहित्य के इतिहास का खंडन कर के साहित्य की 'साहित्यिकता' और आंतरिकता को बचाने के प्रयत्न में साहित्य की 'सामाजिकता' की हत्या करने पर तुले हैं।"*[16] दरअसल साहित्य इतिहास में सामाजिकता की हत्या न हो लेकिन समय के साथ-साथ साहित्य के सौन्दर्यात्मक

मूल्यों और मान्यताओं में किस तरह के परिवर्तन आए और वे परिवर्तन किस हद तक साहित्य को विशिष्टता की ओर ले गए इसकी तो व्याख्या होनी ही चाहिए। क्योंकि परिवर्तन की व्याख्या का एक उद्देश्य नए परिवर्तनों को प्रेरित करना और दिशा देना भी होता है।[17] इसीलिए रामविलास शर्मा और मैनेजर पाण्डेय ने साहित्य इतिहास लेखक के लिए एक आलोचक की ऐतिहासिक दृष्टि और एक इतिहासकार का आलोचनात्मक विवेक दोनों ही गुणों को जरूरी बताया है।

साहित्य इतिहासकार के सामने इतिहास लिखते समय स्रोत के रूप में इतिहास के तथ्य, रचना, रचनाकार, समाज का अतीत, वर्तमान, भविष्य और इतिहासकार का खुद की आंतरिक चुनौतियाँ और उन चुनौतियों पर लेखक का अपना एक दृष्टिकोण होता है जिन सबका सफल संयोजन करना भी एक चुनौती की तरह है। मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है *"साहित्य के प्रति दृष्टिकोण बनाने का अर्थ ये है कि एक तो साहित्य के प्रति नया दृष्टिकोण और दूसरा इतिहास के प्रति नया दृष्टिकोण।"*[18] दृष्टिकोण इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि साहित्य इतिहास केवल इतिहास के तथ्यों की व्याख्या नहीं है। साहित्य इतिहास में काल-विभाजन, काल नामकरण, उपलब्ध साहित्य का मूल्यांकन और अनुपलब्ध साहित्य का खोज साहित्य इतिहास लेखन की समस्याओं में है। साहित्य इतिहास में ज्यादातर बहसों के केन्द्र में काल-निर्धारण की समस्या रही लेकिन इस संबंध में नामवर सिंह ने लिखा है 'ये सब ठेठ इतिहास की समस्या नहीं है ये सब इतिहास का बाहरी ढाँचा है। इतिहास खुद में एक नई व्याख्या है और नए इतिहास दृष्टि के अभाव में यह नई व्याख्या संभव नहीं है और यह नई इतिहास दृष्टि हमेशा समकालीनता के

चुनौती से दो-चार करती हुई ही हासिल होती है।' प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय भी कुछ ऐसा ही मानते हैं कि *"साहित्य इतिहास का लक्ष्य व्याख्या की पुर्नव्याख्या करना नहीं है। साहित्य के विकास की केवल जाँच-पड़ताल करना भी नहीं है बल्कि नई रचनाशीलता के संदर्भ में अतीत के रचनाशीलता की प्रासंगिकता का विवेचन करना है।"*[9] साहित्य के इतिहास लेखन में अतीत को ठीक से समझने के लिए वर्तमान की सही समझ जरूरी है। वर्तमान की समझ उसे इतिहास का एक नया दृष्टिकोण देगी।

साहित्य इतिहासकार को समकालीन रचनाशीलता की समझदारी का सवाल एक तरीके से उसकी इतिहास के समझदारी को भी चुनौती है। इतिहास की समस्या मूलत: आलोचना की समस्या है और आलोचना हमेशा अपने समकालीन रचनाओं के साथ संवाद में विकसित होती है। आलोचना और इतिहास दोनों ही के लिए चुनौती हमेशा रचनाओं की तरफ से आती है लेकिन एक खास दौर के बाद उन रचनाओं के आस-पास आलोचना और इतिहास आवरण बना लेते हैं तब रचनाओं तक हमारी पहुँच उन आलोचनाओं और इतिहास के माध्यम से ही हो पाती है। इसीलिए साहित्य इतिहास को आलोचना की चुनौती, फिर उस रचना के पाठ की चुनौती, फिर एक नैरेटिव में उसको मुकम्मल जगह देने की चुनौती।

कोई भी खास सामाजिक समूह जिन्हें अपनी आवाज़ उठानी होती है उन्हें नयी भाषा, नए ग्रन्थ, नया पाठ गढना होता है और अपना इतिहास निर्माण करना होता है। जब वह खास सामाजिक समूह अपना इतिहास लिख रहा होता है तो वह समाज का भी इतिहास लिख रहा होता है। अस्मिताओं की अभिव्यक्ति वर्तमान

समय का नियामक परिदृश्य गढ़ रही है। वे साहित्य में वे पहली बार अपने प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठा रहे हैं। साहित्य इतिहास में अनुभूति की प्रमाणिकता या अनुभूति की ईमानदारी का प्रश्न नहीं बल्कि अनुभूति की दावेदारी का प्रश्न केन्द्र में है। क्या साहित्य इतिहास लेखन में दलित और स्त्री लेखन की सहज अनुभूतियाँ जो उनके साहित्य में अभिव्यक्त हुई है या हो रही हैं, वह इतिहास में अभिव्यक्त हो पा रही हैं या नहीं, इस पर ध्यान देने की जरूरत है। जैसा की पहले भी कहा जा चुका है कि साहित्य इतिहास में उस विशेष संदर्भ की खोज होनी चाहिए जिसके प्रत्युत्तर में कुछ खास तरह की रचनाएँ हुई हैं या हो रही हैं, तभी स्त्री, दलित, आदिवासी दृष्टि से साहित्य इतिहास लेखन हो पाएगा। क्योंकि अंततः साहित्य इतिहास भी एक कृति है और वह कृति समाज के सांस्कृतिक विमर्श का उपाख्यान भी है।

जापानी साहित्य के इतिहास की भूमिका में प्रो. सूचिकुतो (Shuichi Kato) साहित्य-इतिहास लेखन की विशिष्टता के कुछ कारणों का उल्लेख करते हैं -

- *"किसी देश के साहित्य में उस देश की संस्कृति की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए साहित्य इतिहास सांस्कृतिक इतिहास भी होता है।*
- *किसी भाषा के साहित्य की ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया तथा किसी साहित्य में भाषा की ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया भी साहित्य-इतिहास का अंग होती है। इसलिए साहित्य इतिहास साहित्यिक परिवर्तनों के इतिहास के साथ ही भाषिक परिवर्तनों का इतिहास भी होता है।*
- *किसी विशेष भाषा में रचना प्रक्रिया का अध्ययन साहित्य इतिहास में होता है।*

- ❖ *किसी भाषा के साहित्य का सामाजिक परिप्रेक्ष्य क्या है? इसका भी अध्ययन साहित्य के इतिहास में होता है।*
- ❖ *साहित्य इतिहास में रचनाकार और इतिहासकार की विश्व दृष्टि होती है जो आने वाले समाज का चित्त निर्मित करती है।"*[20]

इन सभी उत्तरदायित्वों का निर्वहन करता हुआ साहित्य इतिहास एक नया इतिहास हो सकता है।

साहित्य इतिहास की आवश्यकता है या नहीं है यह प्रश्न ठीक उसी तरह से है कि इतिहास की आवश्यकता है या नहीं? नामवर सिंह ने लिखा है कि *"यदि किसी युग के बहुसंख्यक समाज में परंपरा का जीवित बोध हो तो सम्भवत: साहित्य के इतिहास की कोई आवश्यकता ही न रहे। जिस जाति के लिए सम्पूर्ण परम्परा एक जीता-जागता एक वर्तमान सत्य हो उसे अलग से इतिहास पढ़ने की आवश्यकता क्यों पड़े?"*[21]

डब्ल्यू. पी. केर ने लिखा है कि *"साहित्य के इतिहास की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि इसकी वस्तुएँ सदा वर्तमान रहती है, शाश्वत होती है और इस तरह सही मायनों में उनका कोई इतिहास होता ही नहीं।"*[22]

लेकिन साहित्य इतिहास केवल साहित्य का क्रमिक विकास का अध्ययन नहीं है वह जीवन का क्रमिक विकास है। रेने वैलेक साहित्य इतिहास को सभ्यता का इतिहास करते हैं। रामविलास शर्मा साहित्य के इतिहास को *"किसी भी जाति के उपलब्धियों को संजोए रखने का साधन बताते हैं।"*[23] मैनेजर पाण्डेय साहित्य इतिहास की एक और भूमिका की तरफ इशारा करते हैं कि *"साहित्य का इतिहास समाज के इतिहास से प्रभावित होता है और उसे प्रभावित भी करता है।"*[24]

इसके अलावा साहित्य इतिहास की भूमिकाएँ और भी है। मसलन पहला, यदि किसी भी साहित्य के उद्‌भव और विकास की जानकारी साहित्य इतिहास से ही मिल पाती है। दूसरा, यदि किसी कृति का उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करना है तो साहित्येतिहास की जरूरत होगी क्योंकि किसी कृति का मूल्यांकन और उसकी प्रासंगिकता की जाँच साहित्य परंपरा में ही हो सकती है।

किसी भी काल विशेष के साहित्य बोध को समझने के लिए भी साहित्य का इतिहास जरूरी है। एक साहित्य इतिहासकार को साहित्य इतिहास लिखते समय इस बात का ध्यान रखना होता है कि वह मानस की भावनाओं को और उनके साहित्य बोध को ठीक-ठीक समझे। ई.एच. कार ने लिखा है कि - *"इतिहास वर्तमान और अतीत के बीच एक अंतहीन वार्तालाप है और उस वार्तालाप की व्याख्या इतिहासकार करता है और वह व्याख्या ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर होती है।"*[25] इतिहास परिवर्तनों की व्याख्या है तो साहित्य का इतिहास साहित्य बोध के परिवर्तनों की व्याख्या है।

प्रत्येक लेखक अपनी परंपरा से कुछ न कुछ ग्रहण करता है व अपनी साहित्यिक परंपरा में बहुत कुछ मौलिक लिखने का प्रयास करता है। साहित्य इतिहास के माध्यम से हम उस परंपरा के तत्त्वों और उस मौलिकता को रेखांकित कर पाते हैं।

किसी खास विधा को पाठकों ने किसी खास समय में ज्यादा पसंद किया या किन खास परिस्थितियों में किसी खास विधा का जन्म हुआ यह साहित्य

इतिहास से ही पता चलता है। मसलन बीसवीं शती के आखिरी दशक में जिन अस्मिता मूलक विमर्शों ने जन्म लिया उसमें साहित्य की 'आत्मकथा' विधा को पुनर्जीवित कर दिया। यह एक आश्चर्य जनक बात थी। साहित्य इतिहास इन सभी प्रश्नों का जवाब देता है। साहित्य इतिहासकार को भी इतिहास लिखते समय इन बिंदुओं का ध्यान रखना चाहिए तभी एक बेहतर इतिहास लेखन हो पाएगा क्योंकि *"इतिहास का निर्माण करने वाले स्वयं इतिहास से निर्मित भी होते हैं।"*[26]

वर्तमान में साहित्य इतिहास लेखन एक उपेक्षित कार्य हो गया है। आश्चर्यजनक है कि समकालीन आलोचना के किसी भी बड़े आलोचक ने साहित्य इतिहास लेखन का कार्य नहीं किया इसलिए हम उन पुरानी व्याख्याओं को पढ़ने और समझने के लिए अभिशप्त है। फ्रेडरिक जेम्सन लिखते हैं कि नए युग की विशेषता है कि हमारे कानों में इतिहास की आवाज आनी बन्द हो गयी हैं। कुछ छिट पुट प्रयास हुए है लेकिन उससे इतिहास के प्रति एक नया दृष्टिकोण मिलता है, यह पूरी तरह से नहीं कहा जा सकता। मैनेजर पाण्डेय की यह चिंता कि *"साहित्य इतिहास का पुनर्लेखन अनिश्चित काल के लिए टल गया है।"*[27] यह अनिश्चित काल कब तक रहेगा, यह कहना मुश्किल है लेकिन जिस तरह से इतिहास को भुला देने की प्रवृत्ति बढ़ी है, कहीं यह 'सभ्यता संकट' न बन जाए।

1.2 हिन्दी में साहित्येतिहास लेखन की परंपरा

हिन्दी में साहित्येतिहास लेखन की एक समृद्ध परंपरा रही है और उसे लिखने का एक सुनिश्चित इतिहास बोध भी। साहित्येतिहास एक सुनिश्चित इतिहास बोध के बिना नहीं लिखा जा सकता। साहित्येतिहास लेखन के प्रारंभिक चरण (जैसे- सामग्री संकलन, तथ्य संचयन) और मुख्य चरण जिसमें काल-विभाजन, नामकरण, उपलब्ध सामग्री का मूल्यांकन इत्यादि इन सभी प्रक्रियाओं में उस ऐतिहासिक बोध की जरूरत होती है। इन सभी प्रक्रियाओं के माध्यम से साहित्य को एक ढाँचागत रूप देने की कोशिश में लेखक अपनी पद्धतियाँ विकसित करता है और उन पद्धतियों के आधार पर एक इतिहास लिखने की कोशिश करता है। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहासों में स्पष्ट पद्धतियों का अभाव दिखता है लेकिन इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि उन प्रारंभिक इतिहासों ने स्रोत सामग्री के रूप में बाद के साहित्येतिहासकारों को महत्त्वपूर्ण सहयोग मुहैया कराए।

हिन्दी साहित्येतिहास की वास्तविक परंपरा 19वीं सदी के प्रथम चरण में होती है। इससे पूर्व 'भक्तमाल', 'कालिदास हजारा', 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' इत्यादि है। जिनमें एक इतिहास दृष्टि का अभाव है। हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन में अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से शुक्ल पूर्व, शुक्ल युग और शुक्लोत्तर भागों में बाँट सकते हैं। शुक्ल पूर्व हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास फ्रेंच विद्वान गार्सा द तासी ने 'इस्तवार द लॉ लितरेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी' नाम से फ्रेंच भाषा में लिखा। इसका प्रथम संस्करण दो भागों में प्रकाशित हुआ। पहला भाग सन् 1839 ई. तथा दूसरा 1847 ई. में प्रकाशित हुआ।

पहले भाग में कवियों का परिचय तथा दूसरे भाग में उनकी रचनाओं के फ्रांसीसी अनुवाद। यह इतिहास ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड की 'ओरिएंटल ट्रासलेशन कमिटी' की ओर से प्रकाशित हुआ था। तासी ने इस इतिहास में हिंदुई और हिन्दुस्तानी भाषा का इतिहास प्रस्तुत किया। हिंदुई से अभिप्राय हिन्दुओं में बोली जाने वाली हिन्दी और हिन्दुस्तानी से मुसलमानों में बोली जाने वाली हिन्दी से है, जिसका स्पष्टीकरण उन्होंने भूमिका में दिया है। इसको हिंदुई वाले अंश का हिंदी अनुवाद लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने किया है जिसका प्रकाशन सन् 1953 ई. हिन्दुस्तानी एकेडमी से हुआ है।

गार्सा द तासी हिंदी के इस इतिहास का महत्त्व इस रूप में है कि यह हिन्दी साहित्य का प्रथम संदर्भ ग्रंथ है और इसमें लगभग 3000 से ज्यादा कवियों की रचनाओं का विवरण है। इस इतिहास में कवियों का उल्लेख कालक्रमानुसार न होकर वर्णानुक्रमानुसार है लेकिन यथासंभव कवियों व रचनाओं का काल बताने का प्रयास किया गया है। गार्सा द तासी ने इस इतिहास में हिन्दी साहित्य की रचनाओं को चार भागों में बांटने की कोशिश की है। प्रथम आख्यान, कहानी किस्सा, द्वितीय आदिकाव्य तथा प्राचीन काव्य, तृतीय 'इतिहास' गाथा वर्णन तथा चतुर्थ काव्य। उन्होंने इसके अन्तर्गत साहित्य का मूल्यांकन नहीं किया है। गार्सा द तासी ने काव्य के प्रकारों का भी वर्गीकरण किया है जैसे – *"अभंग, आल्हा, कड़रवा, कवित्त, गीतगुज्जरी, चुटकुला, चौपाई, छन्द, भुजंग इत्यादि।"*[28] कहीं-कहीं इन वर्गीकरणों की व्याख्याओं में समस्याएँ भी है जैसे – चौपाई का विवरण देते हुए वे लिखते हैं *"तुकान्त युक्त चार अद्धलियाँ या दो कविताओं की पंक्तियाँ।"*[29]

तासी के इस इतिहास की कुछ सीमाएँ भी है। इसमें तिथि सम्बन्धी अशुद्धियाँ, ग्रन्थ विवरण संबंधी अशुद्धियाँ और तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी है। इतिहास में कवियों और रचनाओं का समय बताने के लिए ईस्वी, हिजरी, सन् और संवत् चारों प्रकार की तिथियों का उल्लेख है। कवियों और लेखकों के जन्म और मृत्यु की तिथि भी कई जगह ठीक नहीं है जैसे *"कबीर की जन्म तिथि संवत् 1305 और मृत्यु तिथि संवत् 1505 दी गयी है।"*[80] तथ्य संबंधी गलतियाँ भी उचित प्रमाण के अभाव में है।

इन सभी त्रुटियों के बावजूद गार्सा द तासी का इतिहास हिन्दी साहित्य इतिहास के बाद के लेखकों के लिए प्रेरणा स्रोत रहा है। इस इतिहास में एक वैज्ञानिक पद्धति और एक सुनिश्चित इतिहासबोध का अभाव दिखता है, लेकिन यह इतिहास हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का प्रारंभिक स्रोत है इसमें कोई दो राय नहीं है।

गार्सा द तासी के बाद शिव सिंह सेंगर ने 'शिव सिंह सरोज' नाम से हिन्दी कवियों का एक वृहत संग्रह प्रस्तुत किया। जो सन् 1883 ई. में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में शिव सिंह सेंगर ने लगभग हजार कवियों की जीवनियों व कविताओं का उद्धरण दिया है। 'शिव सिंह सरोज' में कवियों का परिचय अकारादि क्रम में दिया गया है। 'शिव सिंह सरोज' में भी इतिहास लेखन की कोई पद्धति खोजना मूढ़ता होगी। इस इतिहास ग्रंथ में जहाँ-जहाँ कवियों की कविताएँ दी गई है वहाँ कहीं-कहीं उन पर आलोचनात्मक टिप्पणी भी की गयी है। शिव सिंह सेंगर ने 'पुष्पदंत' कवि को हिन्दी का पहला कवि बताया है। 'शिव सिंह सरोज' में सिद्ध,

नाथ और जैन साहित्य का कोई संकेत नहीं मिलता है। यह इतिहास ग्रंथ अपने सीमित संदर्भों के साथ ही हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों की स्रोत सामग्री रहा है। तमाम त्रुटियों के बावजूद शिव सिंह सरोज के ऐतिहासिक महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। नलिन विलोचन शर्मा ने 'शिव सिंह सरोज' के ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखा है - *"जहाँ तक साहित्येतिहास के रूप में 'सरोज' के महत्त्व का प्रश्न है, यह ग्रन्थ सही अर्थों में कविवृत्त संग्रह भी नहीं कहा जा सकता, साहित्यिक इतिहास तो दूर की बात है क्योंकि कवियों के जन्मकाल आदि के संबंध में जो विवरण हैं, वे भी अत्यन्त संक्षिप्त और बहुधा अनुमान पर आश्रित है फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि ग्रियर्सन ने 'मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' में 'सरोज' को ही आधार बनाया है और इसके अभाव में मिश्रबन्धुओं को 'विनोद' तैयार करने में काफी कठिनाई होती है।"*[1]

सन् 1888 में जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने 'द मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' नामक ग्रंथ लिखा जिसे वास्तविक रूप में हिन्दी का प्रथम साहित्येतिहास माना जाता है। इतिहास कहलाने के लिए जिन दो मूलभूत बातों की आवश्यकता होती है - कालक्रम और कवियों का परिचय। यह पहली बार ग्रियर्सन के इतिहास में मिलती है। इस साहित्येतिहास में कालक्रमानुसार वर्णन है तथा साथ ही युगीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने का प्रयास भी किया गया है। ग्रियर्सन ने प्रथम बार स्पष्ट रूप से संस्कृत, प्राकृत व फारसी मिश्रित उर्दू साहित्य को हिन्दी साहित्य में स्वीकार नहीं किया। वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करते हुए सामग्री व संदर्भ के स्रोतों का भी स्पष्ट वर्णन है। काल विभाजन के साथ-साथ प्रवृत्तियों के

आधार पर नामकरण का प्रयास भी पहली बार किया गया है। जैसे – चारण काव्य, धार्मिक काव्य, प्रेम काव्य, दरबारी काव्य आदि। जार्ज ग्रियर्सन ने ही प्रथम बार भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग माना है जो आज तक प्रायः मान्य है। जार्ज ग्रियर्सन ने इन साहित्येतिहास में इतिहास लेखन की पद्धति निर्मित करने का प्रयास किया जो विधेयवाद के नजदीक है। नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है कि – *"हिन्दी के विधेयवादी साहित्येतिहास के आद्य प्रवर्तक शुक्ल जी नहीं प्रत्युत ग्रियर्सन है।"*[32] ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य का अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत साहित्य से तुलना भी की है, जो बाद के साहित्य इतिहासों में भी दुर्लभ बात है।

ग्रियर्सन के इतिहास लेखन में कुछ त्रुटियाँ भी हैं, जैसे उन्होंने उर्दू को विदेशी भाषा माना है जबकि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह भारतीय भाषा है। कुछ विद्वानों का मानना है कि कभी-कभी ऐसा लगता है कि यह इतिहास 'शिव सिंह सरोज' का अनुवाद है। इन सीमाओं के साथ ग्रियर्सन का यह ग्रंथ बाद के इतिहास ग्रंथों के लिए आधार ग्रंथ के रूप में है। किशोरीलाल गुप्त ग्रियर्सन के ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि *"यह हिन्दी साहित्य की नींव का वह पत्थर है जिस पर आचार्य शुक्ल ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास का भवन निर्मित किया।"*[33]

मिश्र बन्धुओं ने 'मिश्रबन्धु विनोद' नाम से साहित्य का इतिहास लिखा इसके प्रथम तीन भाग सन् 1913 में प्रकाशित हुए और चौथा भाग सन् 1934 में प्रकाशित हुआ। हालाँकि मिश्रबन्धु इसे साहित्य का इतिहास तो नहीं मानते हैं फिर भी इसमें साहित्य इतिहास लेखन की प्रक्रियाओं का ध्यान रखा गया। इसमें लगभग पाँच हजार कवियों को स्थान दिया गया है तथा काल खण्डों में विभाजित भी

किया गया है। गणपति चन्द्रगुप्त ने लिखा है *"इतिहास के रूप में इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें कवियों के विवरण के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है तथा अनेक अज्ञात कवियों को प्रकाश में लाते हुए उनके साहित्य महत्त्व को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है।"*[34] मिश्रबन्धुओं द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सुमन राजे लिखती हैं, *"काल विभाजन की दृष्टि से भी मिश्रबन्धु विनोद प्रगति की दिशा में बढ़ता दिखाई देता है।"*[35]

इस साहित्य इतिहास में कवियों का विवरण काल क्रम में दिया गया है। कवियों को मूल्यांकन की दृष्टि से श्रेणियों में भी विभाजित किया गया है जो परवर्ती साहित्य इतिहासकारों के लिए आधार रहा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है कि *"कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः 'मिश्रबन्धु विनोद' से ही लिए हैं।"*[36]

बकौल मैनेजर पाण्डेय हिन्दी नवजागरण की प्रगतिशील चेतना के अग्रगामी साहित्य विचारक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा। यह 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में वस्तुवादी साहित्य दृष्टि का विकास किया तथा साहित्य के विकास के सामाजिक आधार की खोज की। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित इतिहास सर्वाधिक सुव्यवस्थित एवं मान्य है। अपने साहित्य के इतिहास के आरम्भ में ही अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि *"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता के चित्तवृत्त का संचित प्रतिबिम्ब*

होता है। तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्त के परिवर्तन के साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है, आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।"[37] साहित्य इतिहास की यह सशक्त व्याख्या साहित्य इतिहास लेखन की दिशा में परिर्वतनकारी सिद्ध हुई। आचार्य शुक्ल ने साहित्य इतिहास लेखन की एक विशेष पद्धति का सूत्रपात किया। इस साहित्य इतिहास में काल-विभाजन, नामकरण, साहित्य की समीक्षा इत्यादि साहित्य इतिहास लेखन की सभी प्रक्रियाओं का ध्यान रखा गया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी का आविर्भाव लगभग 7वीं शताब्दी से मानते हैं लेकिन उन्होंने हिन्दी साहित्य का आरम्भ विक्रम संवत् 1050 से माना है। उनके साहित्य इतिहास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास को उन्होंने चार कालखंडों में बांटा है, जो थोड़े हेर फेर के साथ आज भी हिन्दी साहित्य में मान्य है। ग्रियर्सन द्वारा किये गये काल-विभाजन को आचार्य शुक्ल ने और भी अधिक व्यवस्थित रूप प्रदान कर काल-विभाजन किया, जिस काल खण्ड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी, उसे एक अलग काल मान लिया गया और उसका नामकरण भी उन्हीं रचनाओं के आधार पर किया गया। आचार्य शुक्ल द्वारा किये गये सभी काल-विभाजन (आदिकाल को छोड़कर) अभी तक सर्वमान्य है। आचार्य शुक्ल ने साहित्यिक प्रवृत्तियों और तत्कालीन परिस्थितियों में एक कार्य कारण शृंखला स्थापित की।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य इतिहास लेखन और समीक्षा सिद्धान्तों के सन्दर्भ में लोकवादी दृष्टि का सूत्रपात किया। आचार्य शुक्ल को लोकमंगल के आधार पर रचनाओं का मूल्यांकन करने के लिए आलोचनाओं का सामना भी करना पड़ा। इस लोक मंगलवादी दृष्टिकोण के कारण ही आचार्य शुक्ल तुलसी को बड़ा कवि और कबीर को फक्कड़ और सधुक्कड़ी भाषा लिखने वाला रचनाकार बताया है।

राजनीतिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में रचनाओं को देखने के कारण ही रीतिकालीन कविता को वे कमजोर कविता मानते हैं और भक्तिकालीन कविता को उच्च कविता। अपनी कुछ सीमाओं के साथ ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन में प्रथम व्यवस्थित साहित्य इतिहास है, जिसमें पहली बार साहित्य इतिहास लेखन के सिद्धांतों का सूत्रपात हुआ। उनका ग्रन्थ साहित्य इतिहास लेखन की दिशा में एक मील का पत्थर साबित हुआ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के बाद हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण लेकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास' नामक इतिहास ग्रंथ लिखे। इन इतिहास ग्रंथों में रामचन्द्र शुक्ल के विधेयवादी दृष्टि के विपरीत परम्परा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए एक नये दृष्टिकोण का आरम्भ किया गया।

आचार्य द्विवेदी के द्वारा भक्तिकाल के संदर्भ में इस दृष्टिकोण की व्यापक परिणति हुई है। भक्ति आंदोलन के उत्स को वो इस्लामिक प्रतिक्रिया से ज्यादा भारतीय परम्परा में मौजूद सूत्रों में देखते हैं। आचार्य द्विवेदी साहित्य के इतिहास को समग्रता से देखने के पक्ष में है। उन्होंने व्यक्तिवादी इतिहास प्रणाली को त्याग

कर सामाजिक तथा जातीय इतिहास की प्रणाली को अपनाते हुए विभिन्न काव्य प्रवृत्तियों के उद्‌गम स्रोतों को स्पष्ट किया। आचार्य द्विवेदी साहित्यिक परम्पराओं का एक विस्तृत आधार प्रस्तुत करते हैं।

आचार्य द्विवेदी ने अपने इतिहास ग्रन्थ में काल-विभाजन, नामकरण और सीमा निर्धारण का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। आचार्य शुक्ल के 'वीरगाथा काल' को अप्रासंगिक बताते हुए आदिकाल नामकरण किया जो हिन्दी साहित्य में अभी तक मान्य है। भक्तिकाल के संदर्भ में सन्त साहित्य के मूल में सिद्धों नाथों की वाणियों में स्रोत का खोजना आचार्य द्विवेदी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही। आचार्य द्विवेदी लिखते हैं *"यदि कबीर आदि मतवादी संतों की वाणियों के बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथ पंथी योगियों के पदवी से उनका सीधा सम्बन्ध है।"*[88]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखते हैं, *"हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ।"*[89] आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी के प्रेमाख्यानों के मूल स्रोतों का अनुसंधान किया और कथानक रूढ़ियों की सूक्ष्म छान-बीन करते हुए प्रमाणित किया कि ये आख्यान भी भारतीय परम्परा के ही है।

आचार्य द्विवेदी ने प्राचीन युग के सांस्कृतिक वातावरण तथा उस युग की लोक चेतना एवं मनोवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए प्राचीन काव्य का मूल्यांकन किया, इसीलिए आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में जिन

रचनाओं को असाहित्यिक और साम्प्रदायिक मानकर छोड़ दिया था, उसे आचार्य द्विवेदी ने फिर से प्रतिष्ठित किया।

आचार्य द्विवेदी ने साहित्य इतिहास के अध्येताओं के लिए एक व्यापक और संतुलित इतिहास दर्शन दिया। वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो किसी भी रचना के विकासवादी व्याख्या करने के लिए परम्परा और युग स्थिति दोनों का मूल्यांकन जरूरी है। अतः कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल के पूरक आचार्य द्विवेदी ने इतिहास लेखन की एक नई दृष्टि दी।

हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की परंपरा में रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखा। इस इतिहास में रामकुमार वर्मा ने वीरगाथा काल को 'चारण काल' और उसके पहले के साहित्य के लिए 'सन्धिकाल' नाम दिया। अपभ्रंश की बहुत सारी सामग्री को हिन्दी में समेटते हैं इसलिए वे 'स्वयंभू' को हिन्दी का पहला कवि मानते हैं।

गणपति चन्द्र गुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' लिखा। इस ग्रंथ में साहित्येतिहास के विकासवादी सिद्धांतों की प्रतिष्ठा करते हुए उसके आलोक में हिन्दी साहित्य की नई व्याख्या प्रस्तुत की। वे लिखते हैं कि विगत तीस-पैंतीस वर्षों में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त अनुसंधान कार्य हुआ है, जिनसे बहुत सी ऐसी नई सामग्री, नए तथ्य और नए निष्कर्ष प्रकाश में आए हैं जो आचार्य शुक्ल के वर्गीकरण, विश्लेषण आदि के सर्वथा प्रतिकूल पड़ते हैं।

गणपति चन्द्र गुप्त ने इस पद्धति का अनुसरण करते हुए आचार्य शुक्ल के काल-विभाजन को स्वीकार नहीं किया तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास को तीन

कालखण्डों में बाँटा - प्रारम्भिक काल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल। गणपति चन्द्र गुप्त आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का निर्भीकता से खण्डन करते हैं। वस्तुतः यह इतिहास साहित्य इतिहास लेखन में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी सिद्ध हुआ।

नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा सोलह खण्डों में 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' प्रकाशित करने की योजना बनाई गई थी। यह विशाल ग्रन्थ कई लेखकों के सामूहिक प्रयास का प्रतिफलन है। इसका प्रत्येक खण्ड अलग-अलग विद्वानों के सम्पादन में तैयार किया गया है, अतः शैली की एकरूपता नहीं रह पायी। इस इतिहास का स्थूल ढाँचा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित हिन्दी साहित्य के इतिहास पर ही आधृत है, अतः मूल ढाँचे के गुण दोषों का इसमें व्याप्त रहना स्वाभाविक है। यह ग्रन्थ संदर्भ ग्रंथ के रूप में अपनी उपयोगिता को निर्विवाद रूप से स्वीकार्य बनाए हुए है।

हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की परंपरा में सुमन राजे द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' मील का पत्थर है। यह उस आधी आबादी का इतिहास है जिन्हें इतिहास में जगह नहीं मिली। उन्हें जगह नहीं मिली या उन्हें किसी प्रक्रिया के तहत जगह नहीं दी गई। सुमन राजे का यह इतिहास बेबाकी से यह स्पष्ट करता है कि हिन्दी साहित्येतिहास की पीठिका, युग विभाजन, नामकरण एवं पूर्वापर सम्बन्ध निर्धारण पर आधारित है। उल्लेखनीय है कि उन्होंने इस इतिहास में भक्ति आंदोलन के देशव्यापी प्रसार में बिखरे महिला लेखन के सूत्र भी खोज निकाले हैं। उन्होंने इतिहास में 'स्त्री पक्ष' को रेखांकित करने का बखूबी प्रयास किया है।

उपर्युक्त कुछ महत्त्वपूर्ण इतिहास ग्रंथों के अलावा हिन्दी साहित्य के ढेरों इतिहास लिखे गए हैं। नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', बच्चन सिंह द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास', बाबू श्याम सुन्दर दास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास', रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास', परशुराम चतुर्वेदी का 'उत्तरी भारत की संत परंपरा', नगेन्द्र का 'रीतिकाव्य की भूमिका' इत्यादि हैं। इसके अलावा अनेक विद्वानों ने हिन्दी में सीधे-सीधे साहित्येतिहास तो नहीं लिखा लेकिन हमें उनके स्वतंत्र शोधों और लेखों के माध्यम से निर्गुण भक्ति काव्य के इतिहास लेखन को समझने में मदद मिलती है उनमें रामविलास शर्मा, नलिन विलोचन शर्मा, नामवर सिंह, मैनेजर पाण्डेय, पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, शिवकुमार मिश्र, परशुराम चतुर्वेदी का नाम उल्लेखनीय है।

गार्सा द तासी से लेकर अब तक की परंपरा के संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की परंपरा समृद्ध रही है। इतिहासकारों ने अपनी पद्धति को विकसित करने का प्रयास किया है और आगे के इतिहासकारों के लिए पथ प्रशस्त किया है।

सन्दर्भ

1 मैनेजर पाण्डेय – साक्षात्कार द्वारा नृत्य गोपाल शर्मा, समसामयिक सृजन, अप्रैल-जून, 2012, पृष्ठ 141

2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, काल विभाग से

3 रेने वैलेक – डिस्क्रिमीनेशंस, पृष्ठ 143

4 डेविड पर्किन्स – इज लिटरेरी हिस्ट्री पॉसिबल, भूमिका से

5 वही, पृष्ठ 2-3

6 देखें, अर्नाल्ड हाउजर – कला का इतिहास दर्शन

7 देखें, मकस राफाएल "मार्क्सवादी-कला सिद्धांत" कार्ल मार्क्स : कला और साहित्य चिंतन, संपादक- नामवर सिंह, अनुवादक- गोरख पांडेय

8 नामवर सिंह – हिंदी साहित्य इतिहास लेखन लिटरेरी हिस्ट्रीरिओग्राफी इन इंडिया वाल्यूम-1, सं.- अमिय देव, डी.एस.ए. कम्परेटिव लिटरेचर, जादवपुर यूनिवर्सिटी, कलकत्ता, 1992, पृष्ठ 54-55,

9 वही, पृष्ठ 57

10 मैनेजर पाण्डेय – साक्षात्कार द्वारा नृत्य गोपाल शर्मा, समसामयिक सृजन : अप्रैल-जून 2012, पृष्ठ 141

11 शेल्डन पोलक – लिटरेरी हिस्टरी, रीजन एंड नेशन इन साउथ इंडिया : इनटरोडक्टरी नोट : सोशल साइंटिस्ट, वाल्यूम-23, अक्टूबर-दिसम्बर, 1995, पृष्ठ 1

12 वही, पृष्ठ 2

13 नामवर सिंह – हिन्दी साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएँ – श्याम कश्यप, पृष्ठ 12

14 रेने वैलेक "द फाल ऑफ लिटरेरी हिस्टरी" द अटैक आन लिटरेचर एंड अदर एसेस, पृष्ठ 75-76

15 नामवर सिंह – इतिहास और आलोचना, पृष्ठ 145

16 मैनेजर पाण्डेय – साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृष्ठ 03

17 मैनेजर पाण्डेय – साहित्य और इतिहास दृष्टि, भूमिका से

18 मैनेजर पाण्डेय – साक्षात्कार द्वारा नृत्य गोपाल शर्मा, समसामयिक सृजन, अप्रैल-जून, 2012, पृष्ठ 141

19 मैनेजर पाण्डेय – साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृष्ठ 24

20 Shuichi Kato - 'A History of Japanese Literature', Introduction

21 नामवर सिंह – इतिहास और आलोचना, पृष्ठ 166

22 रेने वैलेक – साहित्य सिद्धांत, पृष्ठ 337

23 श्याम कश्यप (सं.) – हिन्दी साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएँ, पृष्ठ 1

24 मैनेजर पाण्डेय – साहित्य और इतिहास दृष्टि, भूमिका से

25 ई.एच. कार – इतिहास क्या है, पृष्ठ 114

26 मैनेजर पाण्डेय – साहित्य और इतिहास दृष्टि, भूमिका से

27 मैनेजर पाण्डेय – साक्षात्कार द्वारा नृत्य गोपाल शर्मा, समसामयिक सृजन, अप्रैल–जून, 2012, पृष्ठ 141

28 गार्सा द तासी – हिंदुई साहित्य का इतिहास (अनुवादक : लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय), पृष्ठ 22, 26

29 वही, पृष्ठ 23

30 वही, पृष्ठ 22

31 नलिन विलोचन शर्मा – साहित्य का इतिहास दर्शन, पृष्ठ 77

32 वही, पृष्ठ 80

33 किशोरीलाल गुप्त – हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, पृष्ठ 111

34 गणपतिचन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृष्ठ 31

35 सुमन राजे – साहित्य इतिहास : संरचना और स्वरूप, पृष्ठ 307

36 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, भूमिका से

37 वही, काल–विभाग से

38 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी – हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 11

39 वही – कबीर, पृष्ठ 222

द्वितीय अध्याय

निर्गुण भक्ति काव्य का इतिहास लेखन

2.1 निर्गुण भक्ति काव्य में 'निर्गुण' का स्वरूप

2.2 निर्गुण भक्ति काव्य का इतिहास लेखन

2.3 निर्गुण भक्ति : उद्‌भव

2.4 ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी भक्ति शाखा

द्वितीय अध्याय
निर्गुण भक्ति काव्य का इतिहास लेखन

2.1 निर्गुण भक्ति काव्य में 'निर्गुण' का स्वरूप

ब्रह्म के निर्गुण निराकार होने की विचारधारा सर्वप्रथम उपनिषदों में दृष्टिगोचर हाती है परन्तु वहाँ यह चिन्तन दार्शनिक चिन्ता मात्र है इस चिन्ता को भक्ति का पुट (Colour) मध्यकाल में मिलता है। जब ब्राह्मणवादी सत्ता को पूरी तरह उखाड़ फेंककर इस्लामिक सत्ता केन्द्र में आई तो ब्राह्मणवादी विचारधारा के खिलाफ जो चिंतन बौद्ध धर्म और नाथपंथी योगियों के संप्रदाय में चला आ रहा था, उसके नवीन संस्करण के उभार को पूरा अवसर मिला। निर्गुण भक्ति संप्रदाय में बहुत से संत निम्न जातियों से आए यह कोई नई बात नहीं थी। बौद्ध, सिद्धों और नाथ योगियों में भी बहुत से लोग नीची जातियों से ही आए थे। कहने का आशय यह है कि चूँकि भारतीयता की भूमि अध्यात्मिकता में निहित थी, सामाजिक व्यवस्था का नियमन आध्यात्मिक शक्तियों के द्वारा होता था। इसलिए परम्परा से निसृत भक्ति निर्गुण भक्ति कविता में अपनी पूरी उर्जा और सामर्थ्य के साथ स्थापित हो जाती है।

सत्संग के द्वारा अर्जित ज्ञान और साधना के द्वारा प्राप्त अर्न्तदृष्टि के आधार पर निर्गुण कवियों की कविता से कुछ दार्शनिक मान्यताएँ निष्पन्न होती हैं, मसलन 'परमात्मा निर्गुण एवं निराकार' है। 'अवतारी परमात्मा नहीं होता' है। 'निर्गुण निराकार ब्रह्म की भक्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ' है। जीवन मूलतः ब्रह्म ही है

किन्तु माया के कारण उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है, भक्ति से ही उसके कर्म बंधन नष्ट होते हैं और वह अपने ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, इसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

सभी प्रकार के कर्मकाण्ड मिथ्या है। सामाजिक भेदभाव मिथ्या है। मनुष्य को संत्कर्म करते हुए परमात्मा की भक्ति करनी चाहिए। भक्ति के लिए कर्मकाण्ड महज पाखण्ड है। सामाजिक भेदभाव विष तुल्य हैं, पंच विकार विषय तुल्य हैं, केवल प्रेम ही भक्ति का हेतु है। उपरोक्त सभी लक्षण निर्गुण भक्ति कविता में बिखरे पड़े हैं।

निर्गुण मत की भक्ति को योग एवं सूफी विचारधारा से संदर्भित करके पल्ला झाड़ लेना युक्ति संगत नहीं होगा, कारण कि सूफियों से अपेक्षाकृत कहीं गहराई से वेदांत व अद्वैत मूलक चिंतन तथा नाथ पंथियों की योग मूलक साधना और वैष्णवों की दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा कांता भक्ति मूलक पद्धतियों का प्रभाव निर्गुण कविता में विद्यमान है।

परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है- *''उपनिषद् साहित्य के साथ संत-साहित्य का कई बातों में साम्य दिखता है। इन दोनों में सबसे बड़ी समानता विषयगत है। उपनिषदों की प्रत्येक पंक्ति से प्रकट होता है कि उसका वर्ण्य-विषय चर्चा करने वाले की व्यक्तिगत अनुभूति पर आश्रित है। इसलिए वह पूरे भाव-गांभीर्य के साथ उसे व्यक्त कर रहा है। उपनिषद् की रचना शैली में हमें जो बात सबसे अधिक उल्लेखनीय दीख पड़ती है, वह उनकी सीधी चोट करने की क्षमता है। उसके रचयिताओं में हृदय की सरलता है, भावुकता है और स्पष्ट कह डालने की तत्परता*

है। वे सादे सात्त्विक जीवन के अभ्यासी हैं, सहज भाव तथा सहृदयता वाले व्यक्ति हैं।'' वस्तुतः उत्कृष्ट शैली और भाव गाम्भीर्य के स्तर पर दिखने वाली साम्यता को जब वैचारिक स्तर पर भी लक्षित करने का प्रयास किया जाता है तो बात उलझ जाती है और यह कार्य नाथों-सिद्धों की साधना-पद्धति को संत कवियों की रचनाओं में दिखाने की सीमा तक पहुँच जाता है। असल में अपनी पूर्ववर्ती प्रतिरोधी परम्परा से प्रभावित होकर ही निर्गुण कवियों ने अपनी प्रतिरोधात्मक क्षमता का विकास किया होगा, ऐसा मानना उन निर्गुण कवियों की मूल संवेदना से भटकना होगा। शब्द-ग्रहण की परम्परा को विचार-ग्रहण की परम्परा तक खींच लाने का प्रयास ऐसा ही है। कबीर के यहाँ परम्परागत पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को वैचारिक स्तर पर खींच लाने का प्रयास भी ऐसा ही श्रम है। रैदास के यहाँ 'उपनिषद्' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है-

'कहि रैदास अथक कथा, उपनिषद् सुनीजै।'

वस्तुतः उपनिषद् शब्द का पारंपरिक अर्थ एम. हिरियन्ना के अनुसार- 'निष्ठा पूर्वक निकट बैठना' होता है। पर इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता है कि इस सन्दर्भ में रैदास का भी अभिप्राय यही होगा। वस्तुतः कविता का अपना एक स्वायत्त संसार होता है जो एक सीमा तक अपनी पूर्ववर्ती परंपराओं से प्रभाव भी ग्रहण करती है और उससे टकराती भी है। वैसे, प्रायः अपने ठेठ अर्थो में 'कविता' अनुगमन के बजाय टकराते हुए ही अपने रास्ते तलाशती है और कुछ नए मूलगामी सवालों को हमारे समक्ष रखती है। निर्गुण भक्त कवियों के यहां अपने *''आरंभिक रूप में एक वैकल्पिक विश्वदृष्टि खोजने की कसमसाहट कहीं प्रखर रूप में मिलती है। वहाँ भक्ति की दार्शनिक प्रपत्तियों को बिना लाग-लपेट के सामाजिक*

परिणतियों तक पहुँचाया गया है। वह किसी भी अन्य से इकहरा प्रभाव ग्रहण करने की बजाय सहजबोध और अन्तर्दृष्टि के बल पर दिक्कततलब और गौरतलब जिज्ञासाएँ करती हैं।''[1] बहरहाल, कर्मकाण्डों और बाह्याचारों के उद्भव से ही इसके खण्डन की भी एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान रही है। इस परम्परा से उपनिषद्, बौद्ध, जैन और बाद में नाथ-सिद्ध भी जुड़ते हैं। पर प्रायः इन सभी परंपराओं ने अपने समानान्तर बाह्याचारों को भी कालांतर में निर्मित करने का प्रयास किया। इस परंपरा से आगे चलकर निर्गुण कवि भी जुड़ते हैं पर समानान्तर बाह्याचारों के प्रस्ताव को एक सिरे से खारिज करते हुए अपने अपने 'अनभै साँचा' और 'आलोचनात्मक विवेक' के साथ। इन कवियों ने अपने सहज तर्को और 'अनुभव सत्य' से बाह्याचारों और कर्मकाण्डों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। कबीर यहाँ भी अगुआ के रूप में दिखाई पड़ते हैं, अपनी निराली भाव-भंगिमा और भाव-गाम्भीर्य के साथ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि- *''बाह्याचारमूलक जिन धार्मिक कृत्यों का खण्डन कबीरदास ने किया है, लगभग उन सभी का खण्डन उनके पूर्ववर्ती हठयोगियों ने उसी प्रकार की चकनाचूर करने वाली भाषा में किया है। लेकिन यह परंपरा और भी पुरानी तथा और भी व्यापक है। योगियों के पूर्ववर्ती सहजयानी सिद्धों ने भिन्न-भिन्न मत के बाह्याचार का वैसा ही जोरदार खण्डन किया है। मुनि रामसिंह क पाहुड-दोहों में बाह्याचारों की उसी प्रकार की धज्जियाँ उड़ायी गयी हैं।''*[2]

वस्तुतः निर्गुण कवियों का अपना स्वायत्त रचना संसार है, जो 'आध्यात्मिक और सामाजिक धरातल पर निरन्तर आवाजाही करती है। इसी क्रम में आचार्य द्विवेदी ने बाह्याचारों के मूल स्रोत 'तत्त्ववाद' की ओर इशारा करते हुए लिखा है

कि *''मूर्ति की उपासना उनको बुरी लगती थी, पर ऐसा जान पड़ता है कि मूर्तिवाला तत्त्ववाद उन्हें मालूम ही न था।... वेद पाठ, तीर्थ स्नान, व्रतोद्यापन, छुआछूत, अवतारोपासना, कर्मकाण्ड इत्यादि सबके विरुद्ध कबीरदास ने लिखा है पर कहीं भी उनकी गूढ़ व्याख्याओं को या उनकी पृष्ठभूमि के तत्त्ववाद को उल्लेख योग्य नहीं समझा है।''*[4] आगे वे इसी क्रम में लिखते हैं कि *''गलत हो या सही, पंडित यह विश्वास करता है कि छूत उसकी सृष्टि नहीं है बल्कि एक अनादि कर्म प्रवाह का फल है। वह विश्वास करता है कि प्राणिमात्र जन्म-कर्म के एक प्रवाह में बहे जा रहे हैं। अगर उसे सचमुच निरुत्तर करना है तो या तो उसे उस अनादि कर्म-प्रवाह की युक्ति के भीतर से समझना चाहिए या फिर जन्म-कर्म प्रवाह के इस विश्वास को ही निर्मूल सिद्ध कर देना चाहिए।''*[5] जाहिर है आचार्य द्विवेदी की यह अपेक्षा एक दार्शनिक या धर्मगुरु कबीर से है जो कि उस ज्ञान मीमांसा के 'तत्त्ववाद' को अपने खण्डन का विषय बनाए जो इन बाह्याचारों के मूल में है। जबकि कवि कबीर की कविता इस बात को बहुत गहरे स्तर पर रेखांकित करती है उसका सहज-स्वसंवेद्य ही बाह्याचारों के खण्डन हेतु आधार बने। यह स्वसंवेद्य उस ज्ञानमीमांसा को सिरे से खारिज करने का उपक्रम करती है जो 'कागदलेखी' पर जोर देती है। यह 'तत्त्ववाद' उसी पुरोहित वर्ग ने निर्मित किया है जिसकी जीवन पद्धति ही इसके विरुद्ध है, जिसके वाह्यजगत और पारमार्थिक जगत में 'भारी-भेद' है-

'ऐसा भेद-विगूचन-भारी।
बेद-कतेब दीन अरु दुनियाँ, कौन पुरुष कौन नारी।
एक बूँद एकै मल-मूतर, एक चाम पर गूदा।
एक जातिकैं सब उत्पन्ना, को बाम्हन को सूदा।।'

यदि इन कवियों के पास अपना कोई 'तत्त्ववाद' है तो वह विवेकाधारित है। कबीर का यह विवेक तत्त्व ही यह सवाल खड़ा करता है- 'पंडित भया तो का भया, बूझा नहीं विवेक। रैदास भी इस 'वेद-कतेब' तत्त्ववाद को अपने 'विवेक तत्त्व' के समक्ष बौना पाते हैं-

'जग में वेद वैद मानी।।
इनमें और अगत कछु औरे कहा कौन पर लीजै
भौजल व्याधि असाधि प्रबल अति, परम पननि गही जै।
पढ़ै-गुनै कछु समझ न परई, अनुभै पर न लबीजै।।
x x x
कह रैदास विवेक तत्त्व बिन, सब मिलि नकर परीजै।।'

प्रायः साधना के क्षेत्र में निर्गुण कवियों को विविध दार्शनिक मत-मतान्तरों से जोड़ने की प्रवृत्ति शोधार्थियों में विद्यमान रही है। शुरू से लेकर अब तक अद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैत, सूफीसाधना पद्धति और नाथों-सिद्धों की साधना पद्धतियों से निर्गुण कवियों को प्रभावित घोषित करने की प्रवृत्ति घनघोर रूप से दिखाई पड़ रही है। जब इन कवियों की रचनाओं में किसी दार्शनिक व्यवस्था का क्रमिक विकास नहीं दिखायी पड़ता है तो आलोचक यह घोषणा करता है कि कबीर और *''निर्गुणवाद वाले दूसरे संतों के बचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है तो कहीं योगियों के नाड़ी चक्र की, कहीं सूफियों के प्रेम तत्त्व की, कहीं पैगम्बर कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसावाद की। अतः तात्त्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी।''*[6] जाहिर है ऐसे में कबीर और अन्य भक्त कवियों की भाषा के साथ-साथ उनकी कविताओं को भी विभिन्न दार्शनिक मतवादों की 'पंचमेल खिचड़ी' के रूप में देखने का प्रयत्न किया जाता है। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने भी अपनी पुस्तक

'हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार 'निर्गुण-सम्प्रदाय' ने *''अपने सारग्राही स्वभाव के ही कारण भारत की सभी आध्यात्मिक पद्धतियों के सारतत्त्व को अपना लिया है। भारत के विभिन्न आन्दोलनों ने समय-समय पर जाग्रत होकर, आध्यात्मिक संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ भी प्रदान किया है वह कबीर के आविर्भाव के पहले से ही, निर्गुण विचारधारा में सम्मिलित हो चुका था।''* वस्तुतः निर्गुण कवियों के सारग्राही व्यक्तित्व को विभिन्न दर्शनों के मूल तत्त्वों से जोड़ने का प्रयास उतना ही घातक है जितना किसी दर्शन-विशेष को इन कवियों के ऊपर चस्पा कर देना। इस सन्दर्भ में पुरुषोत्तम अग्रवाल ने ठीक लिखा है कि *''इसी के साथ आवश्यक है- निर्गुण शब्द के बारे में उस आलोचकीय 'कामनसेंस' से मुक्ति पाना जो इन कवियों की भाषा को ही नहीं, उनके जीवन दर्शन तक को 'पंचमेल खिचड़ी' के रूप में देखता है। निर्गुण कविता उस गहन सार्थक हस्तक्षेप का अत्यन्त उत्तेजक साक्ष्य देती है जो कि वह बतौर कविता के कर सकती है- उन प्रश्नों और जिज्ञासाओं में, जिन्हें कविता के पहुँच के बाहर घोषित कर दिया जाता है। यहाँ प्रयत्न है विश्व के यथार्थ ग्रहण और आत्म के साक्षात्कार की प्रविधियों के बीच पुल बनाने का। यहाँ नकार है अनुभव की आध्यात्मिक-सामाजिक समग्रता को परमार्थिक और व्यवहारिक सत्य की कोटियों में बांटने का।''* असल में भक्ति के आचार्यों और भक्त कवियों के पार्थक्य को ध्यान में रखें तो यह आसानी से लक्षित किया जा सकता है कि जहां आचार्यों द्वारा सम्पादित भक्ति के दार्शनिक सिद्धांत, शंकर के अद्वैतवादी दर्शन से वाद-विवाद-संवाद करते हुए अपना स्वरूप ग्रहण करते हैं। (जैसे शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि) वहीं दूसरी ओर भक्त कवि भक्ति की अपने तईं सर्वथा एक नई अवधारणा को प्रतिष्ठित करते हैं- जिसके मूल में है प्रेम। इस प्रेम की अंतिम परिणति है- अपने प्रियतम से मिलन। 'पिय

बिन क्यों सुख सेजहिं सोंऊ' (रैदास) की गहरी तड़प की इन भक्त कवियों की रचनाओं को कविता के धरातल पर प्रतिष्ठित कर देती है।

प्रेम की यह गहन संवेदना निर्गुण काव्यधारा का मेरुदण्ड है। प्रायः सभी निर्गुण कवियों को इस बात का गहरा अहसास है कि प्रेम में शीश तक देना पड़ता है–

'रामरसायन प्रेमरस पीवत अधिक रसास,
कबीर पीवड़ दुलभ है मांगे सीस कलाम।'

इन संत कवियों के लिए अपने इष्ट के प्रति अनन्य प्रेम, 'भक्ति शून्य समाज' और 'अजपा जाप' की अनुभूति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'हद–बेहद' दोनों को तजकर अपने असीम प्रियतम से मिलन की गहरी आकांक्षा है, मानवोचित विरह की गहरी अनुभूति है। करीब के यहाँ तो विरही की आतुर तड़प और बेचैनी है ही, अन्य निर्गुण कवियों की रचनाएं भी इससे अछूती नहीं है। नामदेव की एक रचना है–

'मैं बउरी मेरा राम भतारू। रचरच ताकऊ करउ सिंगारू।
x x x
उसतति निंदा करै नर कोई। नामे स्त्री रंगुभेटल सोई।'

रैदास ने भी एक स्त्री की तड़प और बेचैनी को अपनी रचना में व्यक्त करते हुए कहा–

'विरह तपै तन अधिक जरावै, नींद न आवे भोज़ न भावै।।
सखी सहेली गरब गहेली, पिव की बात न सुनहु सहेली।।
मेरे दुहागिनि अधकर जानी, गया सुजोधन साध नमानी।
x x x
कहे रैदास अन्देशा ये ही, बिन दरशन क्यूं जीव सनेही।।'

वस्तुतः इन रचनाओं को दाम्पत्य प्रेम के प्रतीक और रूपक भर मान लेने से हम उस लोक विन्यस्त संवेदना से विमुख हो जाते हैं, जो हमें 'प्रेमाकुलता की ऊष्मा का एहसास कराता है। 'सखियों हमयूँ भईं बलमासी' जैसी कबीर कृत और अन्य निर्गुण कवियों द्वारा रचित पंक्तियां हमें सहज ही लोकधुनों की परम्परा से जोड़ देती है।'

प्रायः आलोचकों द्वारा इस विरहाकुल प्रेम को रहस्यवाद की श्रेणी में रख देने का प्रयास वस्तुतः परमार्थिक और व्यवहारिक जगत की पार्थक्य से ही उत्पन्न हुआ है। इस सन्दर्भ में पुरुषोत्तम अग्रवाल ने काफी गहरे ढंग से विचार किया है। उन्होंने 'रहस्यवाद' शब्द के प्रयोग की सार्थकता पर विचार करते हुए लिखा है कि *''रहस्यवाद शब्द अंग्रेज विद्वानों और प्राच्यवादियों के भक्ति विषयक लेखन से ग्रहण किया गया। जो कालान्तर में 'आत्मपरक साधना और अन्तर्दृष्टि परक काव्य संवेदना के लिए' रूढ़ हो गया। प्राच्यवादी कबीर आदि का अध्ययन कविता की दृष्टि से नहीं, धर्मसाधना के इतिहास में प्रसंग में कर रहे थे, सो उन्हें मूर्ति पूजा का खंडन के कारण कबीर 'रहस्यवादी' और अवतारवाद का खंडन करने के कारण 'एकेश्वरवादी' प्रतीत हुए। ये दोनों पारिभाषिक शब्द अपने अन्तर्निहित अर्थों के साथ कबीर पर चिपका दिए गए।''*[9] ऐसे में कबीर आदि अन्य निर्गुण कवियों की समग्र चेतना खंडित रूप में सामने आई और विशेषकर कबीर ज्ञान की प्रकृति परंपरा के विरुद्ध खड़े हुए दिखाई देने लगे, जबकि *''वास्तव में ज्ञान की प्रकृत प्रक्रिया क्या है? अपने प्रत्यक्ष अनुभवों, आध्यात्मिक खोजों को जब मनुष्य एक वैचारिक ढाँचे में ढालता है तो उसके अपने विवेक और ज्ञान की उपलब्ध परंपरा के बीच द्वंद्वात्मक संवाद होता है। इस संवाद के कारण मनुष्य प्रत्यक्ष तक सीमित*

न रहकर उसके आंतरिक अर्थ तक होता है, दूसरी ओर ज्ञान की परंपरा का भी परिष्कार और विस्तार होता है।''[10] वस्तुतः इस ज्ञान की प्रकृत परम्परा से निःसृत कबीर, रैदास, नामदेव आदि अन्य निर्गुण कवियों की प्रेमाधारित सम्बन्धों की कल्पना को भी उस 'आलोचकीय कामनसेंस' ने 'इग्नोर' करने का प्रयास किया है जिसके औजार तथाकथित मरजाद की समस्या' के आक्रान्त थे। यह अनायास नहीं कि रामकुमार वर्मा और अन्य कबीर के आलोचकों ने कबीर की प्रेमपगी पंक्तियों और पदों को 'रहस्यवाद' की श्रेणी में रखा है। वह भी बतौर 'भावनात्मक रहस्यावाद' की श्रेणी में। इसके पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल घोषित कर चुके थे कि *''कबीर की वाणी में स्थान-स्थान पर भावात्मक रहस्यवाद की जो झलक मिलती है, वह सूफियों के सत्संग का प्रसाद है। कहीं इन्होंने ब्रह्म को खसम या पति मानकर अन्योक्ति बांधी है और कहीं स्वामी या मालिक।''*[11] रैदास साहित्य के अध्येता योगेन्द्र सिंह के अनुसार भी- *''सूफी प्रभाव से मिश्रित भावनात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्तियाँ न्यूनाधिक मात्रा में हमको लगभग सभी सन्तों के काव्य में मिलती है।''*[12] जाहिर है इस भावनात्मक रहस्य के स्रोत के रूप में सूफी-साधकों की चर्चा वस्तुतः इसलिए की जाती है कि यह 'प्रेम-नाम की भावना का प्रभाव असल में देशी न होकर विदेशी है। आचार्य शुक्ल के लिए कबीर का यह 'प्रेमतत्त्व' इसलिए प्रशंसा के योग्य है क्योंकि *''कबीर का ज्ञान पक्ष तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा पर सूफियों से जो प्रेमतत्त्व उन्होंने लिया वह सूफियों के यहाँ चाहे कामवासनाग्रस्त हुआ हो, पर निर्गुणपंथ में अविकृत रहा।''*[13] जबकि 'कृष्णभक्ति शाखा के अनुकरण पर' रामभक्ति शाखा में भी 'माधुर्य भाव' की भक्ति पर उनको इसलिए एतराज है क्योंकि *''उसमें भी माधुर्य भाव का गुह्य रहस्य घुसाने का उद्योग किया गया है।''*[14] जाहिर है आचार्य

शुक्ल की यह कथित मर्यादावादी दृष्टिकोण 'रहस्यवाद' के देशी संस्करण का आधार बनती है।

नाथों-सिद्धों की साधनापरक शब्दावलियों का निर्गुण सन्तों के यहाँ भरपूर प्रयोग मिलता है। इन पारिभाषित शब्दों के अर्थ इन संतों के यहाँ, विशेषकर कबीर के यहाँ वही नहीं रह जाते जो नाथों-सिद्धों की परंपरा में मूल रूप में प्रयुक्त हुए हैं। डा. बड़थ्वाल के अनुसार *"शून्य और निर्वाण शब्द भी अपने मूल बौद्ध भाव को व्यक्त नहीं करता वरन् नए अर्थसन्दर्भों की ओर संकेत करता है।"*[15] पूरा 'सहज को अंग' इस बात का प्रमाण है कि कबीर द्वारा प्रयुक्त सहज शब्द का भी अभिप्राय वही नहीं है जो कि नाथों-सिद्धों के यहाँ है। अनहद, शून्य, सहज, अजपा-जाप आदि पारिभाषिक शब्दावलियों का प्रयोग वस्तुतः कवि की अपनी स्वतंत्र सर्जनात्मक शक्ति का अधिकार है, और कबीर की कविता इस बात को गहरे ढंग से रेखांकित करती है-

शून्य मरे अजपा मरे, अनहद हू मर जाय।
राम सनेही ना मरे, कब कबीर समुझाय।।

रैदास भी जब यह कह रहे थे कि -

'वेद-कतेब-कुरान पुरानन, सहज एक नहीं देखा'

तो उनका भी आशय असल में, 'सहज-साधना दिनचर्या को ही पूजा बनाने की विधि से है, साथ ही व्यक्ति के नैतिक उत्तरदायित्व का रेखांकन भी।' रैदास ने लिखा है-

कृष्णा-करीम, राम-हरि-राघव, जबलग एक नपेषा।
वेद-कतेब-कुरान-पुरातन, सहज एक नहि देखा।
जोई-जोई पूजिय, सोइ सोइ कांची, सहज भाव सत होई।
कहै रैदास मै तोहि को पूजूँ जाठे ठांव नांव नहि कोई।।

वस्तुतः *''शब्द सर्जनात्मक तभी कहलाता है, जब वह एक से अधिक सन्दर्भों के अर्थ को प्रकाशित करे- अन्यथा वह पारिभाषिक शब्द कहलाता है।''*[16] निर्गुण कवियों द्वारा परंपरा प्रदत्त पारिभाषिक शब्दावली भी अपने सहज-सर्जनात्मक रूप में प्रयुक्त होकर नए अर्थ-सन्दर्भों को उद्‌घाटित करती है। 'आदिगुरु ग्रन्थ' की रचना प्रक्रिया की चर्चा करते हुए विल्सन ने लिखा है कि *''नानक और उनके सहधर्मी कवियों की रचनाओं में जो सृष्टिकर्त्ता एवं विश्व के मूलाधार तथा दिव्य संरक्षक एवं पालनकर्त्ता के विषय में एक अनिश्चयात्मक भावना काम करती है, वह उसे कवियों की शैली में केवल अरूप, अकाल एवं निर्विशेष भाव स्वीकार कर लेती प्रतीत होती है। इस कारण हम उसे किसी कवि कल्पना से भिन्न नहीं ठहरा सकते।''*[17] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने विल्सन की उपरोक्त मान्यता को उद्‌धृत करते हुए यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि विल्सन की उपरोक्त मान्यता वस्तुतः - *''जो बातें उन्हें दूसरों से सुनी-सुनायी अथवा अन्यत्र उद्‌धृत रूपों में मिली, उन्हीं को पर्याप्त एवं प्रामाणिक मानकर इन्होंने अपना निर्णय दे दिया।''*[18] पर सवाल आदि गुरु ग्रन्थ साहब के पूर्ण परिचय या अपरिचय का नहीं और जबकि आचार्य परशुराम चतुर्वेदी अपने इस निष्कर्ष के पक्ष में कोई पुख्ता साक्ष्य नहीं प्रस्तुत करते, ऐसे में विल्सन जैसे पाश्चात्य विद्वान इन भक्त कवियों की रचनाओं को एकबारगी एक धर्मगुरु की शिक्षा या सिद्धान्त मानने के बजाय कवि की कल्पना भर मानने पर क्यों जोर देते हैं? असल में निर्गुण कवियों का रचना संसार अपने आरंभिक रूप में स्वायत्त सर्जनात्मकता की शर्तों पर रची गयी हैं जहाँ पंथ-विशेष या धर्म-विशेष के निर्माण पर जोर नहीं है वरन् जोर सत्य के अनुसंधान पर है। इसलिए प्रायः सभी निर्गुण कवि बाह्यचारों के प्रश्न पर,

कर्मकाण्ड के प्रश्न पर, वर्णाश्रम की अमानवीयता के प्रश्न पर एक साथ आक्रामक हो उठते हैं और प्रेमाधारित समाज की स्थापना हेतु कटिबद्ध होते हैं। वस्तुतः 'सार-सार को गहि रहे' का जो विवेक कबीर आदि कवियों ने विकसित किया है वह इनकी कविताओं में लक्षित किया जा सकता है।

निर्गुण कवियों के यहाँ प्रेमाधारित मानव समाज की एकता का प्रतिपादन हुआ है। उनके यहाँ ऐसे किसी भी विभाजन को अस्वीकार करने की जिद है जो 'जन्माधारित और रक्ताधारित' हो। पारमार्थिक धरातल पर यज्ञों और कर्मकाण्डों को महत्त्वपूर्ण मानने के कारण यह धर्म साधना वस्तुतः सामूहिक धर्म साधना रही है। इस परंपरा प्रदत्त साधना पद्धति से भी निर्गुण कवियों का पार्थक्य बना हुआ है। वस्तुतः निर्गुण भक्तों की भक्ति साधना की वैयक्तिक परंपरा है, जिसमें सम्बन्धों के प्रति व्यक्तिगत आग्रह भक्ति का प्रमुख लक्षण है। साधना की सामूहिक पद्धति, जो कि वैदिक ब्राह्मण परम्परा के यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि का प्रमुख लक्षण है, के बरक्स निर्गुण कवियों ने प्रेमाधारित व्यक्तिगत साधना पद्धति का प्रस्ताव किया। इस क्रम में यह बात आसानी से परिलक्षित की जा सकती है कि प्रायः सभी निर्गुण कवियों की संवेदना एक दूसरे से इतनी अधिक निकट है कि उसे एक बारगी हम ऊपरी तौर पर किसी एकमात्र कवि की रचना मानने को विवश हो जाते हैं। प्रायः सभी निर्गुण कवियों के यहाँ नाम-स्मरण, गुरु की महत्ता, विरही के रूप में अपने ईष्ट के प्रति अनन्य समर्पण, अनभै साँचा पर बल, वर्णाश्रम के बरक्स मनुष्य-मात्र की योग्यता पर बल और 'योग्यता' को ही अस्मिता के रूप में स्थापित करने की जिद दिखाई पड़ती है। इस साम्यता की ओर इशारा करते हुए पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि *''पीपा, रैदास, सेन और धन्ना के जो पद हमें*

भिन्न-भिन्न केन्द्रों से उपलब्ध होते हैं, उनमें कबीर से भिन्न भावों की अभिव्यक्ति नहीं दीख पड़ती। यदि वे रचनाएँ कबीर की ही कही गयी होती और उनकी नहीं समझी जातीं जिन्होंने वास्तव में लिखी हैं तो हमें उनके कबीर की ही कृति होने में किसी सन्देह को प्रश्रय देने का आवश्यकता न होती।''[19] इस समानता के कारणों की ओर इशारा करते हुए आगे बड़थ्वाल ने लिखा है कि *''शिष्यों में ऐसी विचित्र समानता के कारण ढूँढने के लिए हमें उनके मूल स्रोत गुरु की ही ओर दृष्टिपात करना होता है।''*[20] जाहिर है वे इसका कारण गुरु रामानन्द के प्रभाव को मानते हैं। पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है कि नामदेव, नानक, दादू और कई अन्य निर्गुण कवि तो घोषित तौर पर रामानन्द के शिष्य नहीं थे, फिर इन कवियों की भी काव्य-संवेदना अन्य निर्गुण कवियों की संवेदना के इतने निकट क्यों है? वस्तुतः गुरु के प्रभाव को, उसकी महत्ता को इस सन्दर्भ में एक सीमा तक ही स्वीकार किया जा सकता है। यदि इस समानता का कारण तद्युगीन सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों में ढूँढ़ा जाय, तो यह आसानी से लक्षित किया जा सकता है कि युगीन परिस्थितियों और कटु सामाजिक यथार्थ की विडम्बनाओं और विसंगतियों से क्षुब्ध होकर 'अपने-अपने अन्दाजे बयाँ' के साथ कई कबीर निर्गुण भक्ति कविता में एक साथ उठ खड़े होते हैं जो निर्गुण ब्रह्म की उपासना भी कर रहे हैं और सामाजिक संरचना को पुनर्निर्मित करने का प्रयास भी कर रहे हैं। रैदास का 'बेगमपुरा' इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

2.2 निर्गुण भक्ति काव्य का इतिहास लेखन

हिन्दी में भक्ति काव्य का इतिहास लेखन भक्ति के उदय से शुरू किया जाता है। जिसके सन्दर्भ में हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में पर्याप्त मतभेद है। मुख्य मतभेद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतों में है उनसे पहले गार्सा द तासी, शिव सिंह सेंगर जैसे इतिहासकारों ने भक्तिकाल के उदय की व्याख्या पर पर्याप्त विचार नहीं किया, बल्कि उसके स्वरूप पर ज्यादा चर्चा की। ग्रियर्सन ने 15वीं शताब्दी को धार्मिक पुनर्जागरण का काल माना है और भक्ति के उदय में ईसाइयत की भूमिका बताई है। भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में व्यवस्थित तर्क आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में मिलता है। वे भक्ति काव्य को इस्लाम के आगमन के कारण पराजित एवं हताश जनता की मनोवृत्तियों की उपज मानते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी युगीन परिस्थितियों के स्थान पर परम्परा को अत्यधिक महत्त्व देते हुए भक्ति के उदय को भारतीय परम्परा के मूल में खोजने की कोशिश करते हैं। इसके बावजूद उन्होंने भी चार आना इस्लाम की प्रतिक्रिया को सही माना है।

दरअसल आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी का यह मतभेद इतिहास दृष्टियों के भेद को भी रेखांकित करता है। आचार्य शुक्ल जहाँ इतिहास लेखन में जनता को केन्द्र में रखते हैं, वहीं आचार्य द्विवेदी लोक को रखते हैं। आचार्य शुक्ल जब भक्तिकाल के उदय की व्याख्या करते हैं और राजनीतिक परिस्थितियों की बात करते हैं तो पहले धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों को ही धार्मिक परिस्थितियों

का पूरक मान लेते हैं और सिद्धों, नाथों की भूमिका को रेखांकित नहीं करते हैं। आचार्य द्विवेदी भक्तिकाल के उद्‌भव में मुख्य रूप से सिद्धों, नाथों के महत्त्व को स्वीकारते हैं और प्राकृत, अपभ्रंश की शृंगार प्रधान कविताओं के प्रतिक्रिया स्वरूप भक्ति के उदय को व्याख्यायित करते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में भक्तिकाल के नामकरण को लेकर कोई मतभेद नहीं है क्योंकि यही वह समय है जब भारत में भक्तिकालीन रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हो रही थी। इस समय के भक्त कवियों ने मिलजुल कर रहने की भावना का सूत्रपात किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन रचनाकारों की रचनाओं के आधार पर निर्गुण और सगुण दो भागों में बांटा। निर्गुण में भी ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी तथा सगुण में राम भक्ति शाखा तथा कृष्ण भक्ति शाखा का विभाजन किया। निर्गुण भक्तिधारा में ब्रह्म के निर्गुण रूप की उपासना पर बल दिया गया। सामाजिक रूप से देखे तो इसका सबसे बड़ा कारण शासक और शोषित की भावनाओं का एकीकरण हो जाना है। इस्लाम जहाँ एक ईश्वर की उपासना पद्धति पर चलता है वहीं शंकराचार्य ने एक ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया। यही एकेश्वरवाद संतकवियों का मुख्य आधार बना इसी निर्गुण का विस्तार करते हुए कवियों ने उसके आकार, प्रकार और रंग-रूपों का भी उल्लेख किया। इन संत कवियों में कबीर, दादू, मलूक, रज्जब, रैदास आदि प्रमुख हैं जिन्होंने सामाजिक और धार्मिक मतभेद का उठकर मुकाबला किया और ईश्वर की उपासना पर जोर दिया।

खास बात यह है कि इन्होंने बाह्याचार जैसे माला, छाप-तिलक, अजान, तीर्थ या हज आदि का भी घोर विरोध किया। इसी युग में निर्गुण ब्रह्म की उपासना

की एक अन्य पद्धति भी चलन में आयी जिसमें प्रेम को प्रधानता दी गयी और जिसके अनुयायी मुख्य रूप से ईस्लाम धर्मावलंबी थे। प्रेम में उदासीन रूप के उपासक इन सूफियों का यह मानना है कि परमात्मा और आत्मा का संबंध नारी और पुरुष के सहज संबंधों जैसा ही है। राजनीतिक उपयोगिता सिद्ध करते हुए इन सूफियों ने भारतीय प्रेमपरक लोक-कथाओं को अपनी रचनाओं का आधार बताया और सच्चे अर्थों में सांस्कृतिक विजय की।

सगुण भक्ति धारा में सगुण शास्त्रीय अर्थ है गुणों से समन्वित साकार होने के कारण यह माना गया है कि परब्रह्म ईश्वरीय गुणों से युक्त होता है, इन ईश्वरीय गुणों के अन्तर्गत तेज, ज्ञान, बल और ऐश्वर्य आदि प्रमुख हैं। यह भी माना गया है कि सत्, रज, तम आदि तीन गुण स्थायी रूप से मात्र ईश्वर के ही हो सकते हैं। अवतार लेने पर ब्रह्म इन्हीं गुणों को प्रकट करता है इस प्रकार इस परम्परा में अवतारी रूप में कृष्ण और राम का गुणगान किया गया। कृष्ण की लीला का गान करने वाले कृष्ण भक्ति शाखा के सगुण कवि कहलाए। इनमें सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, कुम्भनदास तथा हित हरिवंश आदि प्रमुख हैं।

राम भक्तिशाखा के कवि जन राम को विष्णु का अवतार मानते हैं और अपने अराध्य राम का गान करते थे। वे आदर्श पुरुष के गुणों को देखना चाहते हैं इनका राम दु:खी हृदय वालों के वे भगवान हैं जो सुख और शान्ति प्रदान करते हैं। इनके अतिरिक्त विष्णुदास, तुलसीदास, नाभादास और केशवदास आदि भी इस परम्परा के मुख्य कवि हैं। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इनमें तुलसीदास अपने अराध्य के स्वरूप का गान करते हुए इस लोक में स्वयं पूज्य बन गए।

इस प्रकार निर्गुण भक्ति की ये दोनों धाराएँ ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी अपने-अपने नामों के अनुरूप ही ईश्वर प्राप्ति का वह साधन बनी जिसमें आत्मज्ञान को प्रमुखता दी। निर्गुण भक्ति काव्य के इतिहास लेखन में निर्गुण की शाखाओं ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी का क्या स्वरूप रहा इस पर अगले अध्यायों में विस्तार से चर्चा की जाएगी। निर्गुण भक्त कवियों की भाषा को साहित्य इतिहासकारों ने बहुत महत्त्व नहीं दिया जबकि यह भाषिक आंदोलन भी था जिस पर आगे के अध्याय में चर्चा की जाएगी। निर्गुण भक्ति काव्य का अवसान किन परिस्थितियों में हुआ इस पर इतिहास लेखकों ने पर्याप्त विचार नहीं किया है। जिन लोगों ने विचार किया भी है वे पूरे भक्ति काव्य के अवसान पर केन्द्रित हैं। गजानन माधव 'मुक्तिबोध' और मैनेजर पाण्डेय ने इस बिन्दु पर गम्भीरता से विचार किया है। जिसका आगे के अध्यायों में चर्चा की जाएगी।

2.3 निर्गुण भक्ति : उद्‌भव

हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की परम्परा में सर्वप्रथम जार्ज ग्रियर्सन ने भक्ति के उद्‌भव के संबंध में विचार किया है वे इसके मूल में ईसाइयत की परंपरा को देखते हैं। जार्ज ग्रियर्सन अपनी पुस्तक 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' में लिखते हैं *''समस्त धार्मिक मत-मतांतरों के अंधकार पर बिजली सी कौंध दिखाई पड़ती है। कोई हिंदू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई किंतु इतना तो निश्चित है कि समस्त भारत वर्ष ने इतना विराट आंदोलन शायद ही कभी देखा हो।''*[21] ग्रियर्सन भक्ति आंदोलन को ईसाइयत की देन मानते हैं इसके प्रमुख कारण हो सकते हैं - ईसाइयत में द्वैत भावना विद्यमान है यह द्वैत भावना भक्ति साहित्य में भी देखी जा सकती है। ईसाइयत में भक्त और भगवान के बीच मूल भाव प्रार्थना है जो कि भक्ति आंदोलन की प्रकृति निर्धारित करती है। ईसाइयत में विद्यमान नैतिक भावना भक्ति आंदोलन में आध्यात्मिक, सामाजिक विमर्श के रूप में देखने को मिलती है।

जाहिर है कि इन कुछ समानताओं के आधार पर ग्रियर्सन ने यह निष्कर्ष निकाला होगा कि भक्ति आंदोलन ईसाइयत की देन है। ग्रियर्सन यूरोप में जैसे संत थेरेसा का आंदोलन फैला था वैसे ही भक्ति आंदोलन के अस्तित्व में आने की व्याख्या करते हैं। ग्रियर्सन के मत की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि भारतीय जनता पर भक्ति आंदोलन अपनी गहरी छाप छोड़ रहा था किंतु यह भी सत्य है कि कोई भी आंदोलन अचानक पैदा नहीं होता उसकी अपनी एक सामाजिक प्रकृति होती है वह एक दीर्घकालीन प्रक्रिया की परिणति होती है इसीलिए ग्रियर्सन की यह अवधारणा भ्रामक है। बाद के इतिहासकारों ने इस अवधारणा को अस्वीकार्य कर दिया।

हिंदी साहित्य का प्रथम व्यवस्थित इतिहास लिखने वाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल भक्ति के उद्‌भव के मूल में मुसलमानी राज्य की सत्ता को देखते हैं। आचार्य शुक्ल अपनी इतिहास दृष्टि में युग चेतना और समकालीन-सामाजिक परिवेश को विशिष्ट महत्त्व देते हैं। वे लिखते हैं- *"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। ××× इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"*[22] अर्थात् आचार्य शुक्ल भक्ति के उद्‌भव में इस्लाम के प्रति प्रतिक्रियात्मक स्वर को प्रमुखता देते हैं तथा हिंदुओं के पराभव और उससे उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को भक्तिकाल के उद्‌भव का प्रमुख कारक मानते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल भक्ति के उद्‌भव में तत्कालीन भारतीय समाज की धार्मिक परिस्थितियों की भी व्याख्या करते हैं तथा हिंदुओं के पराभव का कारण वज्रयानी सिद्धों और कपालिक योगियों को मानते हैं जिन्होंने जनता को कर्म क्षेत्र से हटा दिया। *"कबीर तथा अन्य निर्गुण पंथी संतों के द्वारा अंतस्साधना में रागात्मिका 'भक्ति' और ज्ञान का योग तो हुआ, पर 'कर्म' की दशा वही रही जो नाथपंथियों के यहाँ थी।××× सारांश यह है कि जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय सच्चे धर्म भाव का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था। प्रतिवर्तन के लिए बहुत कड़े धक्कों की आवश्यकता थी।"*[23] अर्थात् आचार्य शुक्ल के अनुसार मुसलमानों का आगमन भारतीय सांस्कृतिक संरचना में एक कड़ा धक्का था। इस

कारण बहुसंख्यक जनता जो हिन्दू थी, उसके पास विकल्पहीनता की स्थिति पैदा हुई और वह भक्ति की तरफ उन्मुख हुई। आचार्य रामचंद्र शुक्ल उत्तर भारत में भक्ति का आगमन का स्रोत दक्षिण भारत के भक्ति को भी मानते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की अवधारणा का आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी खंडन करते हैं और भक्ति को भारतीय चिंता धारा का स्वाभाविक विकास मानते हैं, उन्होंने इसे दक्षिण के भक्ति आंदोलन से भी जोड़ा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जार्ज ग्रियर्सन की ईसाइयत संबंधी अवधारणा का भी खंडन किया और भक्ति के पुरस्कर्ता आलवारों को बताया। वे लिखते हैं कि, *"स्पष्ट है कि आलवारों का भक्तिवाद जनसाधारण की वस्तु था जो शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारत में फैल गई। भक्तों के अनुभूतिगम्य सहज सत्य को बाद के आचार्यों ने दर्शन का क्रमबद्ध सुचिंतित रूप दिया। यही बात उत्तर भारत के विषय में सत्य है। यहाँ भी साधारण जनता के भीतर जो धर्म भावना वर्तमान थी उसने शास्त्र की अँगुली पकड़कर अपने को शक्तिशाली रूप में प्रकट किया।"*[24]

आचार्य द्विवेदी भक्ति के उद्‌भव में इस्लाम के महत्त्व को पूरी तरह से नकारते नहीं है लेकिन लिखते हैं कि *"हिंदी साहित्य में यह प्रभाव के रूप में ही यह स्वीकार किया जाना चाहिए प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।"*[25] आचार्य द्विवेदी बौद्ध धर्म को निर्गुण और सगुण दोनों भक्ति धाराओं के प्रेरक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।[26]

बच्चन सिंह ने भक्ति काव्य के उदय का प्रमुख कारण आर्थिक माना है। *"श्रम विभाजन के फलस्वरूप नई जातियों का जन्म हुआ, जाती-पाँति के बन्धन*

को धक्का लगा। बाजारों पर निर्भर होने कारण कारीगरों और सामन्तों की संबंध शृंखला हुई। उनके मन में आत्मसम्मान और स्वतन्त्रता का भाव जागा।××× कबीर, रैदास, दादू इत्यादि इसी व्यवसाय और जाति के लोग थे।"[27] बच्चन सिंह यहाँ पर आर्थिक ढाँचे में बुनियादी परिवर्तन को निम्न वर्ग के उदय का कारण मानते हैं और इसी निम्नवर्ग से उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन की शुरूआत देखते हैं।

रामस्वरूप चतुर्वेदी भक्तिकाल के उदय में बौद्ध धर्म के बढ़ते प्रभाव और प्राकृत के शृंगार काव्य की प्रतिक्रिया के रूप में देखा है। उन्होंने नामवर सिंह की 'दूसरी परम्परा की खोज' में दिये गये स्थापनाओं को खारिज करते हुए भक्ति की उदय को इस्लाम के सांस्कृतिक आतंक से बचाव की सजग चेष्टा के रूप में व्याख्यायित किया है। *"भक्ति-काव्य के विकास के पीछे बौद्ध धर्म का लोक-मूलक रूप है और प्राकृतों के शृंगार-काव्य की प्रतिक्रिया है तो इस्लाम के सांस्कृतिक आतंक से बचाव की सजग चेष्ट भी है।"*[28] नगेन्द्र भी भक्ति आंदोलन के सूत्रपात में मुख्यत: भागवत धर्म के प्रचार-प्रसार और उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति को जिम्मेदार मानते हैं *"मुख्यत: भागवत धर्म के प्रचार-प्रसार के परिणाम स्वरूप भक्ति आंदोलन का सूत्रपात हुआ था और उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे लोक प्रचलित भाषा भक्ति भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है और कालान्तर में भक्ति विषयक विपुल साहित्य की बाढ़ सी आ गई।"*[29] नगेन्द्र ने भी दक्षिण भारत में भक्ति के पैदा होने और कालान्तर में उत्तर भारत में उसको लोकप्रिय बनाने में दक्षिण के आचार्यों की भूमिका को स्वीकार किया।

रामविलास शर्मा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के भक्ति के उद्‌भव की अधिकांश व्याख्याओं से सहमत है तथा वे इस्लाम के आगमन को भक्ति के उद्‌भव में

प्रभाव के रूप में लेने की सिफारिश की है, न की प्रतिक्रिया के रूप में। बाद में रामविलास शर्मा ने आचार्य शुक्ल की ही स्थापनाओं को विस्तृत किया है। रामविलास शर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की भारतीय चिंता का स्वभाविक विकास वाली स्थापना का खंडन किया है तथा सिद्धों, नाथों की प्रेरणा के बजाय वैष्णव मत के विकास में भक्ति के उद्‌भव का सूत्र देखते हैं।

गजानन माधव 'मुक्तिबोध' भक्ति के उद्‌भव में आर्थिक परिस्थितियों को जिम्मेदार मानते हैं और वे भक्ति के मूल चरित्र को सामंत विरोधी मानते हैं। तुर्कों के आगमन से भारत की आर्थिक गतिविधियों में वृद्धि हुई जिससे सामन्ती तत्त्वों के कमजोर होने तथा निम्न वर्ग के उदय को भक्ति के उद्‌भव के मूल में देखते हैं। वे लिखते हैं कि *"उत्तर भारत में निर्गुणवादी भक्ति आंदोलन में शोषित जनता का सबसे बड़ा हाथ था।"*[40] वे भक्ति के उद्‌भव को उच्चवर्गीय और निम्नवर्गीय संघर्ष के रूप में व्याख्यायित करते हैं तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मुस्लिमों के आगमन सम्बन्धी अवधारणा को प्रभाव के रूप में ही देखते हैं।

भक्ति आंदोलन के उद्‌भव के सम्बन्ध में 'मुक्तिबोध' की तरह ही इरफान हबीब और के. दामोदरन ने मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की। इरफान हबीब के अनुसार दिल्ली सल्तन्त की स्थापना के कारण जब बड़े पैमाने पर सड़क और भवन निर्माण आरम्भ हुआ तो निम्न वर्णों की आथिक स्थिति में अचानक सुधार आया, जिससे उनके भीतर सामाजिक प्रतिष्ठा की भूख बढ़ी। इसी तनाव, बेचैनी और छटपटाहट ने निर्गुण भक्ति काव्य को जन्म दिया। मुख्यत: दामोदरन भी भक्ति के उद्‌भव में आर्थिक कारण ही देखते हैं तथा भक्ति आंदोलन को सामंतवाद के विरुद्ध व्यापारी और दस्तकारी वर्ग की प्रतिक्रिया के रूप में देखते हैं।

भक्ति आंदोलन के उद्‌भव के संबद्ध में आबिद हुसैन व ताराचन्द भी इस्लाम के आगमन को कारण के रूप में देखते हैं। ताराचन्द का मत है कि इस्लाम के आगमन के साथ ही कुछ सूफी लोग भारत के पश्चिमी तट पर बस गये जो ईश्वर की साधना करते हुए 'हाल' की अवस्था में पहुँच जाते थे। इन्हीं की प्रेरणा से भारत में भक्ति का आगमन तथा विकास हुआ।

शिवकुमार मिश्र ने भक्ति आन्दोलन को सामाजिक-धार्मिक आंदोलन के रूप में देखा है। वे भक्ति आंदोलन को सामंतवाद के पतन तथा इस्लाम के आगमन के फलस्वरूप उत्पन्न सांस्कृतिक संकट की प्रतिक्रिया के रूप में देखते हैं। लेकिन वे इसे धार्मिक आवरण में लिपटा हुआ आंदोलन जरूर मानते हैं। सामंतवाद के जड़ों के टूटने तथा निम्न वर्णों के उदय को जनता की एकता का कारण मानते हैं और उसे ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप भी बताते हैं।

सतीश चन्द्र, इरफान हबीब तथा के. दामोदरन से थोड़ा अलग मत रखते हैं और इस्लाम के आगमन से ब्राह्मण वर्ग के कमजोर होने तथा निम्न वर्ग के अन्दर आत्मसम्मान का भाव जगने को भक्ति आंदोलन के उद्‌भव का कारण बताया। सतीश चंद्र भक्ति आंदोलन को दक्षिण के भक्ति आंदोलन की एक शाखा के रूप में देखे जाने वाली व्याख्या को सवालों के घेरे में भी खड़ा किया। वे लिखते हैं *"लोकप्रिय भक्ति आंदोलन दक्षिण के भक्ति आंदोलन की ही एक प्रशाखा है तो यह बता पाना मुश्किल है कि क्यों ये दो आंदोलनों के बीच पाँच सौ वर्ष का अंतर है? सर्वविदित है कि दक्षिण का भक्ति आंदोलन 18वीं सदी में अपने उत्कर्ष पर पहुँच चुका था।"*[61]

सतीश चंद्र 'भक्ति को लोकप्रिय रूप सामंती तत्त्वों के बिखराव के तत्त्वों से नहीं बल्कि ब्राह्मणों के शक्तिहीन और प्रभावहीन होने और तद्जन्य, असनातनी, जाति विरोधी आंदोलन में लोकप्रिय एकेश्वरवाद के विकास के लिए भूमि तैयार होने के कारण को प्रमुखता देते हैं।' यूसूफ हुसैन, आई.एच. कुरैशी इत्यादि विद्वानों ने भी भक्ति आंदोलन का उद्भव हिन्दू बहुईश्वरवाद पर इस्लामी एकेश्वरवाद के प्रभाव स्वरूप को देखते हैं।

गोपेश्वर सिंह ने भक्ति आंदोलन के उद्भव को लेकर व्यापक विचार विमर्श किया है तथा सतीश चंद्र की तरह ही भक्ति के दक्षिण से आने की अवधारणा को प्रश्नांकित किया है। वह उत्तर भारत के लोकप्रिय भक्ति आंदोलन का अध्ययन वहाँ के सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के आलोक में करने की वकालत करते हैं न कि उसे दक्षिण की भक्ति की एक प्रशाखा मानते हैं।

गोपेश्वर सिंह ने 'भक्ति द्राविड़ उपजी, लाए रामानंद' वाली अवधारणा का खंडन करते हुए कुछ सवाल खड़े किए। सबसे पहले तो उन्होंने इस दोहे की प्रमाणिकता पर ही सवाल खड़ा किया। दूसरा सवाल उन्होंने श्रीकृष्ण लाल के अध्ययन के सहारे बताया कि स्वामी रामानंद दक्षिण गए ही नहीं थे। वे मथुरा के ब्राह्मण थे और काशी में रहते थे, फिर 'भक्ति द्राविड़ उपजी लाए रामानंद' कथन का आधार क्या है? तीसरा सवाल उन्होंने सतीश चंद्र से इत्तफाक रहते हुए उठाया कि दक्षिण से भक्ति को उत्तर आने में 4-5 सौ वर्ष क्यों लगे? उनका 'प्रश्न यह है कि चार-पाँच सौ वर्षों तक भक्ति की यह भावधारा दक्षिण में ही रुकी क्यों रही जबकि इस बीच दक्षिण भारत और उत्तर भारत का संचार-संपर्क जारी था।

इतिहासकार रामशरण शर्मा के लेख 'पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन' से पता चलता है कि इस काल में दक्षिण और उत्तर में व्यापार का चलन था और लोगों का उत्तर-दक्षिण आना-जाना जारी था।' इस तरह से गोपेश्वर सिंह दक्षिण से भक्ति के उत्स को खारिज करते हैं और इसके उद्‌भवों के कारण को उत्तर भारत के सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों को जिम्मेदार मानते हैं। इस तरह से वे दक्षिण वाले मसले पर सतीश चंद्र की तरफ तथा कुछ मसलों पर इरफान हबीब, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा और के. दामोदरन की तरफ भी खड़े दिखाई पड़ते हैं।

नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और द्विवेदी के बहाने भक्ति के उद्‌भव में विचार दिया। उन्होंने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत को स्थापित करने की कोशिश की तथा मुसलमानों के आगमन से उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को आजीविका से जोड़कर देखा। वे भक्ति आंदोलन को शास्त्र और लोक के बीच के द्वंद्व में देखते हैं न कि हिंदू और मुस्लिम धर्म के संघर्ष के रूप में। इस तरह वे रामविलास शर्मा और इरफान हबीब के पक्ष में खड़े दिखते हैं।

नामवर सिंह की इस अवधारणा का रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपने इतिहास में पुरजोर खंडन किया है तथा बल्लभाचार्य के 'म्लेच्छाक्रांतेषु देशेषु' के बहाने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि भक्ति आंदोलन का उद्‌भव हिंदू-मुस्लिम संघर्ष के रूप में तथा उससे उत्पन्न सांस्कृतिक संकट की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। निर्गुण भक्ति के प्रसिद्ध विद्वान पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल निर्गुण भक्ति के उद्‌भव के दो कारणों की चर्चा करते हैं - प्रथम इस्लाम आगमन और दूसरा हिन्दू धर्म में

व्याप्त वर्ण व्यवस्था और निचली जातियों का शोषण। इन दो कारणों की विस्तार से चर्चा करते हुए वे भक्ति के उदय को व्याख्यायित करते हैं।

इस प्रकार से हम देखते है कि हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन में निर्गुण भक्ति के उद्‌भव के विभिन्न मत है। इन मतों के सन्दर्भ में जो समस्याएँ हैं, उस पर अगले अध्याय में चर्चा की जाएगी।

सुमन राजे भी निर्गुण भक्ति के उद्‌भव में द्विमुखी संघर्ष की भूमिका को स्वीकार करती हैं। एक अन्तर्मुखी संघात जो हिन्दू समाज के अन्दर मौजूद था और एक बर्हिमुखी संघात जिसे इस्लाम के आगमन के रूप में व्याख्यायित करती हैं।

2.4 ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी भक्ति शाखा

निर्गुणधारा और सगुणधारा को भी दो उपधाराओं में बाँटा गया है- ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। ज्ञानाश्रयी शाखा में ज्ञान का अर्थ न तो साधारण इन्द्रिय जन्य ज्ञान है न तो बौद्धिक तर्क वितर्क से प्राप्त दार्शनिक ज्ञान। इस पंथ में ज्ञान से तात्पर्य अनुभव जन्य ज्ञान से है। कबीर इसे आँखन देखी कहते हैं - 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखन की देखी'। भक्ति काव्य के प्रवर्तन का श्रेय कबीरदास को दिया जाता है। हालाँकि उनसे पूर्व भी नामदेव जैसे संत ज्ञान के माध्यम से ईश्वर तक पहुँचने की बात करते हैं।

ज्ञानाश्रयी शाखा अपनी पूरी महिमा के साथ कबीर के इर्द-गिर्द ही प्रकट हुआ और उन्हीं के रचनात्मक सामर्थ्य से भव्यता भी प्राप्त कर सका किन्तु इस शाखा में कबीर के अतिरिक्त रैदास, दादू, नानक, धर्मदास आदि के यहाँ आंदोलनात्मक रूप में विस्तार प्राप्त करने लगा और आगे चलकर भीखा साहब, बुल्ला साहब, पलटू दास से होते हुए सहजोबाई, जगजीवन साहब आदि के यहाँ 18वीं-19वीं सदी तक यह आंदोलन अपना विस्तार प्राप्त करता है।

ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के अधिकांश कवि समाज के निम्न वर्ग या सामान्य वर्ग से आते हैं जिनके लिए शास्त्र वर्जित था इसलिए उन्होंने आत्मानुभव को प्रधानता दी। इनका मूल उद्देश्य था - अशिक्षित जनता में सत्य का निरूपण करना, कथनी-करनी में तारतम्य पर बल देना तथा 'नाम' के माधुर्य को घर-घर पहुँचाना।

चूँकि निर्गुणीय संत प्रायः निम्न वर्ग से आए जो प्रायः पढ़े-लिखे नहीं थे, काव्य कला में दीक्षित नहीं थे अतः उनकी रचनाओं में शास्त्रीय दृष्टि से तमाम असंगतियों का मिलना स्वाभाविक है। ज्ञानमार्गी कवियों का ज्ञान अनुभवगम्य

आधारित है इसलिए वे वर्णव्यवस्था का खंडन करते हैं और जाति की जगह 'कर्म' आधारित समाज के निर्माण की बात करते हैं।

रैदास की रचनाओं में अपेक्षाकृत कोमलता या माधुर्य भाव अधिक है। जिस प्रकार 'बीजक' में साखी, सबद, रमैनी संकलित है, उस तरह की रैदास की कोई व्यवस्थित रचना नहीं मिलती है। धर्मदास भी कबीर की शिष्य परंपरा में थे, उनकी रचनाओं में प्रेम तत्त्व की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है और पूर्वी भाषा का प्रयोग देखा जा सकता है।

गुरु नानक की कविता अपेक्षाकृत अधिक सहज है। अन्य निर्गुणीय संतों की तरह उनकी भी कविता में भी मिश्रित भाषा का प्रयोग देखा जा सकता है, उनकी काव्य भाषा में स्वभावतः पंजाबी प्रभाव अधिक है –

'जो नर दुःख में दुःख नहि मानै,
सुख सनेह अरु भय नहि जागै
कंचन माटी जानै.....।'

यह उल्लेखनीय तथ्य है कि नानक के काव्य में प्रथम बार अपने समय की राजनैतिक व्यवस्था के प्रति असंतोष व्यक्त किया गया है। उनकी रचनाओं में योग प्रसंगों में परंपरागत ढर्रे पर नारी के प्रति अपमानजनक उपमाओं का प्रयोग नहीं दिखायी पड़ता।

दादू की कविता में राजस्थानी प्रभाव देखा जा सकता है। सहजता, कोमलता और माधुर्य उनकी कविता का खास गुण है। दादू यद्यपि कबीर के शिष्य थे किंतु उन्होंने अपना पंथ दादू-पंथ भी चलाया –

'दादू सब हैरान है, गूँगें का गुड़ खायि,
जब मन लागे राम सों, तब अनत काहे का जाइ।'

धर्मदास व नानक की तरह सुंदरदास वणिक थे, ये उस संत परम्परा में अपवाद स्वरूप हैं, जिसमें प्रायः अधिकांश संत अशिक्षित हैं, सुंदरदास शिक्षित थे। उनकी प्रमुख काव्य कृतियों में सुन्दर विलास हैं, जिसमें दोहा, कविता संकलित है। सुंदरदास काव्य कला की उच्च कोटि की गुणवत्ता से सम्पन्न हैं, यद्यपि कबीर की तरह उनका काव्य सामाजिकों के लिए मर्मस्पर्शी नहीं है, परन्तु निर्गुण परम्परा में उनकी रचनात्मक क्षमता निस्संदेह रूप से सराहनीय है।

'गेह तज्यौ स्नेह तज्यों पुनि खेह लगाई के देहि संवारि
मेहसहे सिर, सींच सहै तन धूप समय जो पंचागिनि जारि।।'

सूफी काव्य परंपरा का उदय भक्ति की निर्गुण काव्य धारा के प्रेममार्गी धारा के अंतर्गत हुआ। सूफी दर्शन में मुख्यतः चार सम्प्रदाय माने गए हैं, ये हैं - चिश्तिया, सुहरावर्दिया, नक्शबंदिया और कादिरीया संप्रदाय, सूफी मत के मानने वाले मानव शरीर में चार चीज़ों को महत्त्व का मानते हैं, इन चारों में दो भौतिक और दो चीज़ें अभौतिक हैं। भौतिक चीज़ों में नफ़स (इन्द्रियाँ), अक्ल (बुद्धि) तथा अभौतिक चीज़ों में कल्ब (हृदय) और रूप (आत्मा) शामिल है।

सूफी दर्शन साधना में चार अवस्थाएँ हैं - 'शरीयत' यानी मजहब, 'शरीयत' के अंतर्गत सलात (प्रार्थना), जकात (दान), सौम (उपवास), हज (तीर्थ)। 'शरीयत' में इन सारी प्रक्रियाओं से ही गुरु प्राप्ति हो जाती है। 'तरीकत' का अर्थ होता है, पद्धति व पवित्रता। साधना की इस स्थिति तक पहुँचने के लिए साधक को अपने समस्त विषय वासनाओं को त्याग कर हृदय का शुष्क बनाना पड़ता है, क्योंकि हृदय को शुष्क बनाए व्यक्ति विषय-वासनाओं से मुक्त नहीं हो सकेगा और साधना की उसकी राह अवरुद्ध होती रहेगी। इसके लिए सूफी दर्शन

सात आन्तरिक क्रियाओं और स्थितियों की जरूरत मानता है। ये हैं - तौबा, जहद (स्वेच्छागृहित दरिद्रता), सब्र (संयम, संतोष), शुक्र (उस परमसत्ता के प्रति शुक्रगुजार), रियाज़ (लगातार अभ्यास), तव्वाकुल (परम सत्ता के अनुराग और रहम पर पूरा भरोसा) और अंत में रज़ा अर्थात् वैराग्य। सूफियों के मतानुसार इन सातों स्थितियों से गुजरने के बाद ही खुदा के लिए इश्क का जन्म होता है।

'हकीकत' दरअसल उस परमसत्ता या खुदा की सच्चाईयों से रूबरू होना है और अंत में, 'मारिफ़त' यानी परम ज्ञान की अवस्था। ऊपरी तीनों साधना अवस्था से गुजरने के पश्चात ही व्यक्ति मिहान या वस्ल की अवस्था में पहुँचता है। साधना की इस स्थिति में पहुँचने पर साधक अपने उस खुदा में अपने को मिला देता है, समाहित हो जाता है, जैसे जल में कोई घुलनशील पदार्थ मिलकर तदनुरूप हो जाता है, उसी तरह साधक भी अपने खुदा के नूर में मिलकर उसी अनुरूप अपने को पाता है। जब खुदा और उसके साधक का यह मिलन हो जाता है, तब इसी मिलन की स्थिति को वस्ल कहा जाता है। इस स्थिति में बन्दा फना होकर बका की प्राप्ति करता है। जहाँ अद्वैतवाद में 'अहम् ब्रह्मास्मि' है, लगभग यही 'अनलहक' है।

सूफियों का मानना है कि खुदा ने अपने बन्दों को दो ज्ञान दिए हैं - 'इल्म-ए-सकीना' और 'एल्म-ए-सिना'। पहला ज्ञान खुदा के बन्दे कहे जाने वाले पैगम्बर मुहम्मद के मार्फ़त 'कुरआन' के रूप में सभी को मिला है, जबकि दूसरा ज्ञान खुदा के बन्दों के हृदय पक्ष से जुड़ता है। इस ज्ञान को खुदा ने सीधे अपने बन्दों के हृदय में ही रखा है। सूफियों के यहाँ मान्यता दोनों ही ज्ञानों की है पर वे

दूसरी ज्ञान दशा को अपने अधिक पास पाते हैं और उनका समस्त दर्शन इसी आधार पर निर्मित हुआ है।

जायसी के 'पद्मावत' को प्रेमाख्यानों का प्रतिनिधि काव्य कहा जाता है। इसमें लोक से सम्बन्धित और दर्शन से सम्बन्धित अत्यंत समृद्ध वैचारिकी दृष्टिगोचर होती है जिसका उद्देश्य अपने समय की समस्याओं से रूबरू होना एवं मानव सभ्यता के सनातन विकास के लिए समाधान प्रस्तुत करना है, वह भी मनुष्य के अंतरंग प्रवृत्ति प्रेम के आधार पर न कि सूफी दर्शन के आधार पर। सूफी होना जायसी का व्यक्तिगत मामला है जिसे लोक पर नहीं थोपते –

'छार उठाय लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उड़ाय पृथ्वी झूठी।'

गोया कि जहाँ प्रेम तत्त्व का संतुलन भंग होता है वहाँ समूची पृथ्वी ही झूठी हो जाती है। जिन चीज़ों से मानव सभ्यता का विकास विखण्डित होता है, शांति खतरे में पड़ती है वे तत्त्व ही इस विराट झूठ की सृष्टि करते हैं जो इन सूफी कवियों के लिए अवश्य त्याज्य है।

ऐसा नहीं है कि स्वच्छन्द प्रेम भारतीय परम्परा में स्वीकृत नहीं है। स्वीकृत नहीं है, यह अलग बात है किन्तु होता रहा है। जब सूफी पंथ अस्तित्व में नहीं आया था तभी भारतीय सामाजिक परंपरा में स्वच्छंद प्रेम कथाएँ लिखी जा चुकी थी। जायसी की इस प्रसिद्ध उक्ति से सूफी काव्य के आध्यात्मिक आशय का स्पष्ट संकेत मिलता है –

'तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पद्मिनि चीन्हा।
गुरु सुवा जेहि पंथ देखाया। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।'

प्रेमाख्यानक काव्यधारा ने धर्म निरपेक्ष संस्कृति के निर्माण तथा लोक में प्रेम के महत् अर्थ की प्रतिष्ठा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। निस्संदेह सूफियों का काव्य सांस्कृतिक मेल जोल का पूरक है। जब नारियाँ हरमों की वस्तु होती थीं, उस भोगवादी युग में उनमें खुदाई की छवि देखना परंपरागत दार्शनिक मीमांसा से आगे बढ़ जाना था जिसकी ऐतिहासिक सामाजिक नियति नारी अस्मिता को किंचित सार्थक स्तरों पर उद्घाटित करती है और साम्राज्यवाद तथा भोगलिप्सा का प्रतिपक्ष मानवीय प्रेम से निर्मित करता है।

सन्दर्भ

1 परशुराम चतुर्वेदी - संत साहित्य की परख, पृष्ठ 130-131
2 पुरुषोत्तम अग्रवाल - विचार का अनन्त, पृष्ठ 127
3 हजारीप्रसाद द्विवेदी - कबीर, पृष्ठ 109
4 वही, पृष्ठ 107
5 वही, पृष्ठ 107-108
6 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 39
7 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल - हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, पृष्ठ 14
8 पुरुषोत्तम अग्रवाल - विचार का अनन्त, पृष्ठ 146-147
9 वही, पृष्ठ 134
10 वही, पृष्ठ 136
11 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 44
12 योगेन्द्र सिंह - संत रैदास, पृष्ठ 84
13 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 36
14 वही, पृष्ठ 36
15 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल - हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, पृष्ठ 15
16 पुरुषोत्तम अग्रवाल - विचार का अनन्त, पृष्ठ 149
17 परशुराम चतुर्वेदी - संत साहित्य की परख, पृष्ठ 74
18 वही, पृष्ठ 3
19 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल - हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, पृष्ठ 246-247
20 वही, पृष्ठ 246-247
21 जार्ज ग्रियर्सन - हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास (अनु.- किशोरीलाल गुप्त), पृष्ठ 42
22 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 39
23 वही, पृष्ठ 42
24 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, पृष्ठ 59
25 वही, पृष्ठ 66
26 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 16-25
27 बच्चन सिंह - हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास
28 रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ 39
29 नगेन्द्र, हरदयाल (संपा.) - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 81
30 गोपेश्वर सिंह (संपा.) - भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार, पृष्ठ 116
31 वही, पृष्ठ 69

तृतीय अध्याय

निर्गुण भक्ति काव्य के इतिहास लेखन की समस्याएँ

3.1 निर्गुण भक्ति : उद्‌भव

3.2 निर्गुण भक्ति काव्य : दार्शनिक स्रोत

3.3 निर्गुण और सगुण : भेद

3.4 ज्ञानाश्रयी भक्ति शाखा

3.5 प्रेमाश्रयी भक्ति शाखा

तृतीय अध्याय
निर्गुण भक्ति काव्य के इतिहास लेखन की समस्याएँ

3.1 निर्गुण भक्ति : उद्‌भव

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में भक्ति आन्दोलन के इतिहास लेखन के सन्दर्भ में सबसे पहली समस्या उसके उदय के कारणों और स्रोतों को लेकर है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना है कि भक्तिकाव्य इस्लाम और मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया का फल है। उन्होंने लिखा है कि *"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया था अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग न बचा था।"*[1] यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आचार्य शुक्ल भक्तिकाल को मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया बताकर उसके उद्‌भव के पीछे सक्रिय सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक शक्तियों की सक्रियता की पहचान में चूक जाते हैं। यही कारण है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त स्थापना का खण्डन करते हैं। आचार्य द्विवेदी के अनुसार *"यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेल लिए जा रही थी।"*[2] उनका मानना हैं कि 'अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा

आज है।' आगे चलकर उन्होंने 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास' में अपनी इस स्थापना को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।'

रामविलास शर्मा न केवल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बल्कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की मान्यताओं का भी खण्डन करते हुए भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य को लोकजागरण और जनसंस्कृति का काव्य कहते हैं। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि *"संत साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थतियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत-बौद्ध धर्म या इस्लाम में या हिन्दू धर्म में ढूँढना सही नहीं है। इन धर्मों का उस पर असर है, लेकिन ये उसके मूल स्रोत नहीं हैं।"*[3] यह ठीक है कि रामविलास शर्मा, आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की स्थापनाओं से अलग हटकर भक्तिकाव्य को देखते हैं, लेकिन वे भी भक्तिकाव्य पर इस्लाम या बौद्ध धर्म के प्रभाव से इनकार नहीं करते। फिर भी वे इन प्रभावों से होने वाले परिवर्तन एवं विकास के विवेचन-विश्लेषण से नजरे चुरा जाते हैं।

रामविलास शर्मा को लक्ष्य करके मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि *"कुछ लोग भक्ति आंदोलन को इस्लाम और मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया समझते हैं तो कुछ दूसरे उस पर इस्लाम का अत्यन्त सीमित प्रभाव मानते हैं। जो लोग भक्ति आंदोलन को लोकजागरण का आंदोलन और जनसंस्कृति की अभिव्यक्ति कहते हैं वे भी लोकजीवन ओर जनसंस्कृति के भीतर इस्लाम के सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों को अस्वीकार नहीं करते। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे सभी आलोचक भक्तिकाव्य में उन प्रभावों की उपेक्षा करते हैं।"*[4]

हिन्दी साहित्येतिहास में भक्तिकाल के उदय को लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्थापनाओं को केन्द्रीय महत्त्व प्राप्त है। आचार्य शुक्ल की स्थापना में शास्त्र और मर्यादा को प्राथमिकता दी गयी है तो आचार्य द्विवेदी ने लोक को केन्द्रीय तत्त्व के रूप में स्थापित किया है। शायद यही वजह है कि आचार्य शुक्ल के लिए तुलसीदास प्रतिमान के रूप में है और आचार्य द्विवेदी के लिए कबीर महत्त्वपूर्ण है।

भक्ति का आरंभ कालक्रम की दृष्टि से निर्गुण भक्ति से ही होती है इसलिए भक्ति के उदय की व्याख्या निर्गुण भक्ति के उदय की व्याख्या है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार उदय के सन्दर्भ में *"आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की स्थापनाओं से ही सहमत-असहमत दिखते हुए अपनी बात रखते हैं। रामविलास शर्मा ने भी शुक्ल जी की इस बात से सहमति दिखाई है कि उस समय जनता में गहरी उदासी छाई थी और यह निराशा भी भक्ति का एक स्रोत थी।"*[5] लेकिन मुस्लिम शासन को इस निराशा और उदासी का कारण वे नहीं मानते। वे लिखते हैं कि - *"शुक्ल जी का विचार था कि यह निराशा और उदासी मुस्लिम शासन के कारण थी। देश में विदेशी जातियों का आक्रमण और उनका शासन भी एक कारण था लेकिन वास्तविकता यह है कि सत्ता में सहायक और भाग लेने वाले देशी सामंत भी थे, उन सामंतों के देशी सहायक पंडे और पुरोहित भी थे।"*[6]

आगे उन्होंने लिखा है कि - *"जो लोग हिन्दू धर्म और इस्लाम की टक्कर में मध्यकालीन समाज की आशा निराशा का स्रोत ढूँढते हैं वे उस समय के साहित्यिक आंदोलनों के सामाजिक आधार का सही-सही पता नहीं लगा सकते।"*[7]

स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल भक्ति के उदय में जितने स्पष्ट शब्दों में मुस्लिम आक्रमण से उत्पन्न हिन्दू जनता की निराशा को बताते है उतनी स्पष्टता से रामविलास शर्मा को ग्राह्य नहीं है। रामविलास शर्मा इस्लामी शासन की स्थापना को 'एक कारण' मानते हैं न कि मुख्य कारण। यहाँ भी एक समस्या उत्पन्न होती है कि रामविलास शर्मा जिस तरह से देशी सामंतों तथा उनके देशी सहायक पंडों और पुरोहितों की आलोचना करते हैं, लेकिन यह नहीं व्याख्यायित करते हैं कि आखिर इस्लाम के आगमन से पूर्व उन सामंतों व पंडे-पुरोहितों की क्या भूमिका थी और पहले वह निराशा का कारण क्यों नहीं बनी? जो भक्ति के उदय की व्याख्या को और पेचीदा बनाती है।

बहरहाल आचार्य शुक्ल और रामविलास शर्मा की सहमतियों-असहमतियों के बीच एक बात जो निकलकर आती है वह है कि रामविलास शर्मा 'साहित्यिक आंदोलनों के सामाजिक आधार' का प्रश्न उठाते हैं और उसी के सन्दर्भ में भक्ति के उदय की व्याख्या भी करते हैं। रामविलास शर्मा ने भक्ति आंदोलन का संबंध सामंती व्यवस्था के कमजोर होने तथा व्यापार के विकास से जोड़ा है। भक्ति आंदोलन को जातीय आंदोलन भी कहते हैं - *"भक्ति आंदोलन जातीय आंदोलन था, वह किसी विशेष वर्ण या संप्रदाय का आंदोलन न था। उसमें हिन्दू, सिख, मुसलमान, जुलाहे, कारीगर, किसान, व्यापारी शामिल थे।"*[8] और रामविलास शर्मा की दृष्टि में जो व्यापारी वर्ग था उसे मुक्ति की आकांक्षा थी - *"यह समाज ऐसा था जिसमें नए व्यापारी वर्ग की बढ़ती के साथ-साथ कारीगरों, जुलाहों और किसानों में मुक्ति की आकांक्षा बढ़ रही थी।"*[9]

वे भक्ति आंदोलन की प्रकृति के बारे में लिखते हैं कि – *"उसे राज्याश्रय प्राप्त न था यह भी बिल्कुल स्पष्ट है। कारण यह है कि वह एक ओर यदि तुर्कों और मुगलों के शासन का विरोधी था तो दूसरी ओर और उससे भी अधिक वह समाज में सामंती और पुरोहित उत्पीड़न का विरोधी था।"*[10]

रामविलास शर्मा की यह बात निर्गुण भक्त कवियों के बारे में बहुत हद तक सही है लेकिन यदि इसे पूरे भक्ति आंदोलन के संदर्भ में समझेंगे तो समस्या उत्पन्न होगी क्योंकि सभी को नहीं तो कुछ संप्रदायों को राज्यकृपा तो हासिल थी ही और इसे हासिल करने के लिए उनमें होड़ भी थी, यह ऐतिहासिक तथ्य है। रामविलास शर्मा का यह कहना भी तर्क से परे है कि भक्ति आंदोलन तुर्कों और मुगलों के शासन का विरोधी था। सगुण भक्ति कविता में तुलसी और वल्लभाचार्य जैसे आचार्यों की कुछ उक्तियों को छोड़ दिया जाए तो भक्ति आंदोलन में शामिल कवियों की कविता किसी भी तरह से तुर्कों और मुगलों के राजनैतिक शासन की विरोधी नहीं दिखती है। ज्यादा से ज्यादा तुलसी की पंक्ति 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाही' और कुंभनदास के 'संतन को कहाँ, सीकरी सो काम' जैसी पंक्तियों का हवाला दिया जा सकता है। यह पंक्तियाँ भी उस तरह से शासन विरोधी नहीं ही कही जाएगी।

गौरतलब यह है कि भक्ति के उदय की व्याख्या के सन्दर्भ में रामविलास शर्मा अपनी कोई स्थापना नहीं देते बल्कि आचार्य शुक्ल की स्थापना की ही एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करते जान पड़ते हैं। आगे चलकर रामविलास शर्मा अपने एक लेख 'तुलसी साहित्य के सामंत विरोधी मूल्य' में 'आधार और अधिरचना' की मार्क्सवादी शब्दावली का इस्तेमाल करते हुए स्पष्ट शब्दों में यह सवाल उठाते हैं कि 'भक्ति आंदोलन का आधार क्या था?' तथा इसका उत्तर भी देते हैं –

"सोलहवीं सदी के लगभग शेरशाह और अकबर के शासनकाल में उत्तर भारत में सामंती व्यवस्था काफी कमजोर हुई। नहरे खुदने और सड़के बनने से यातायात में उन्नति हुई, एक ही तरह की मुद्रा के चलन से व्यापार में उन्नति हुई, राज्य और काश्तकार में सीधा संबंध स्थापित होने से ग्राम पंचायतों का नितांत अलगाव कम हुआ। बारूद के इस्तेमाल से केंद्रीय राजसत्ता जागीरदारों की स्वच्छंदता कम करके उन्हें अपने मातहत कर सकी, यूरोप में भारत का व्यापार बहुत बड़े पैमाने पर आगे बढ़ा। उत्तर भारत में शहरों की संख्या ही नहीं बढ़ी उनकी जनसंख्या और उनका व्यवसायी महत्त्व भी बढ़ा, जगह-जगह अपने अधिकारों के लिए जनता ने संघर्ष किए और इस तरह भी उसकी एकता बढ़ी। इन परिस्थितियों में सामंती ढाँचा जर्जर हुआ उस ढाँचे के भीतर व्यापारियों द्वारा पैदा किए पूँजीवादी संबंध जन्म लेने लगे। पुराने जनपदों का अलगाव काफी दूर हुआ और वे मिलकर एक जाति (नेशन) के रूप में संगठित होने लगे। भक्ति आंदोलन इस जातीय आंदोलन का सांस्कृतिक प्रतिबिंब था।"[1]

आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की व्याख्याओं से एकदम अलग यह भक्ति आंदोलन की व्याख्या थी। रामविलास शर्मा ने इस भक्ति आंदोलन को जातीय आंदोलन का नाम दिया और इसका संबंध व्यापक आर्थिक प्रक्रियाओं से जोड़ा। हालांकि इस व्याख्या में एक समस्या है। उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन की शुरुआत कम से कम चौदहवीं-पद्रहवीं शताब्दी से मानी जाती है जबकि रामविलास शर्मा सामंती व्यवस्था के कमजोर होने, व्यापार के विकास तथा जाति निर्माण की प्रक्रिया की शुरुआत सोलहवीं शताब्दी से बताते हैं।

बहरहाल रामविलास शर्मा अपने एक-दूसरे लेख 'हिन्दी उर्दू विवाद और हमारी जातीय भाषा के विकास की समस्या' में जातीय भाषा के रूप में हिन्दी के प्रसार की चर्चा करते हुए तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में सामंती ढाँचे के ढीले पड़ने की बात कही है। हालांकि यह निबन्ध सीधे तौर पर भक्ति आंदोलन से संबंधित नहीं है लेकिन रामविलास शर्मा ने सामंती ढाँचे के ढीले पड़ने के उदाहरण के तौर पर निर्गुण भक्ति का उदाहरण दिया है और कारण के तौर पर मुगलकाल में व्यापार की उन्नति संबंधी तथ्य की चर्चा की है। यह व्याख्या आचार्य शुक्ल की व्याख्या के विरोध में तो थी ही बल्कि स्वयं रामविलास शर्मा के इस बात के विरोध में है कि भक्ति के उदय में देश में विदेशी जातियों का आक्रमण और उनका शासन भी एक कारण था। जबकि रामविलास शर्मा उनके शासन के बारे में बार-बार आर्थिक उन्नति के संबंध में चर्चा की है न कि उनके शासक से उत्पन्न निराशा के संदर्भ में। इसलिए भक्ति के उदय की रामविलास शर्मा की व्याख्या से भी किसी निष्कर्ष पर पहुँचना मुश्किल है।

'दूसरी परंपरा की खोज' में भक्ति आंदोलन की अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए नामवर सिंह ने आचार्य द्विवेदी, मुक्तिबोध, इरफान हबीब तथा स्वयं अपनी मान्यताओं को संश्लिष्ट रूप में पेश किया। नामवर सिंह ने दोनों आचार्यों- शुक्ल तथा द्विवेदी - को दो परंपराओं के प्रतिनिधि के तौर पर देखा, जिसमें पहली या 'महान' परंपरा सामाजिक वर्चस्व की परंपरा थी, जबकि दूसरी परंपरा वह 'लघु परंपरा थी, जो 'काल के प्रवाह में गौण' लेकिन प्रतिरोध की 'क्रांतिकारी परंपरा' थी। नामवर सिंह की खोज ने हिंदी आलोचना में 'शुक्ल-द्विवेदी विवाद' को जन्म दिया तथा इन दोनों आचार्यों की भूमिका के साझे तत्त्वों का नजरअंदाज कर कोई

एक पक्ष चुन लेने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। जो कोई एक पक्ष नहीं चुनना चाहते थे, उन्होंने अपनी ऊर्जा दोनों आचार्यों के मतों का समन्वय करने में लगा दी। यह सही है कि आचार्य द्विवेदी आचार्य शुक्ल की तुलना में प्रगतिशील थे और भक्ति के उदय एवं स्वरूप की उनकी व्याख्या भी कहीं अधिक पूर्वग्रह मुक्त थी, लेकिन न तो आचार्य द्विवेदी की प्रगतिशीलता निरपेक्ष थी और न ही भक्ति साहित्य की उनकी व्याख्या पूरी तरह तथ्यपरक और तार्किक है।

'दूसरी परंपरा की खोज' में नामवर सिंह ने भक्ति आंदोलन की आचार्य द्विवेदी की व्याख्या में मौजूद प्रगतिशील तत्त्वों का अर्थ स्पष्ट किया, लेकिन साथ ही उन्होंने सचेत रूप से दोनों आचार्यों के चिंतन में मौजूद साझेपन की उपेक्षा की, उन्हें एक-दूसरे के विरोध में खड़ा किया। नामवर सिंह ने देश में मुसलमानों का शासन स्थापित हो जाने और तद्जनित हताशा के चलते भक्ति के पैदा होने की आचार्य शुक्ल की मान्यता को उद्धृत करते हुए आचार्य द्विवेदी की मान्यता से उसका विरोध दिखाया और इस प्रसंग में आचार्य द्विवेदी द्वारा उठाए गए बुनियादी सवाल को उद्धृत किया - *"यह बात अत्यंत उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत में मंदिर तोड़ रहे थे, तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर प्रकट हुई वह दक्षिण में।"*[12]

हिंदी आलोचना में यह आम भ्रम है कि आचार्य शुक्ल उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के उदय का एकमात्र कारण इस्लामी आक्रमण और उनके शासन की

स्थापना को मानते हैं, दूसरी परंपरा की खोज में नामवर सिंह इस भ्रम को और बढ़ाते हैं। रामविलास शर्मा भी इस भ्रम का खंडन करने, की बजाय शिकार हो गए, तभी तो उन्होंने आचार्य शुक्ल से आंशिक असहमति जताते हुए लिखा कि जनता की निराशा के पीछे 'देश में विदेशी जातियों का आक्रमण और उनका शासन भी एक कारण था', लेकिन कारण और भी थे। उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के उदय को इस्लामी शासन की स्थापना का परिणाम मानना निसंदेह भ्रामक है, लेकिन आचार्य शुक्ल की समूची व्याख्या को यही तक सीमित करके देखना कम भ्रामक नहीं है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में आचार्य शुक्ल के इस्लामी शासन के बारे में बहुप्रचारित छः पंक्तियों का ही उल्लेख होता है। उन्होंने भक्ति के उदय की व्याख्या करते हुए नौ पैराग्राफ और भी लिखे थे, जिस पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। उक्त छः पंक्तियों के बाद अगले पैराग्राफ की आरंभिक पंक्तियाँ है - *"यह तो हुई राजनीतिक परिस्थिति। अब धार्मिक स्थिति देखिये। आदिकाल के अंतर्गत यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वज्रयानी सिद्ध, कापालिक आदि देश के पूर्वी भागों में और नाथपंथी जोगी पच्छिमी भागों में रमते चले आ रहे थे।"*[13] आचार्य शुक्ल के विवेचन से असहमति हो सकती है, बहुत से तथ्यों का उन्हें पता नहीं था, उनके दृष्टिकोण की सीमाएँ थी, सीमाएँ उनके समय की भी थी, लेकिन इन सीमाओं के कारण उनके लेखन में मौजूद अंतर्दृष्टियों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। आचार्य शुक्ल साहित्यिक प्रवृत्तियों के उदय के पीछे केवल राजनीतिक कारण ही नहीं देखते थे, उन्होंने सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों को भी पहचानने की कोशिश की। अगले नौ पैराग्राफों में आचार्य शुक्ल ने तीन बातों पर विशेष जोर दिया- पहली, आरंभिक निर्गुण भक्ति के लिये रास्ता नाथपंथियों ने तैयार कर दिया था, दूसरी, निर्गुण भक्तिधारा में

हिंदू-मुसलमान का विरोध नहीं है, वह दोनों के लिये एक सामान्य भक्तिमार्ग थी। आचार्य शुक्ल ने बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा- *"मुसलमानों के बस जाने से देश में जो नई परिस्थिति उत्पन्न हुई उसकी दृष्टि से हिंदू मुसलमान दोनों के लिये एक 'सामान्य भक्तिमार्ग' का विकास होने लगा। उसके विकास के लिये किस प्रकार वीरगाथा काल में ही सिद्धों और नाथपंथी योगियों द्वारा मार्ग निकाला जा चुका था, यह दिखाया जा चुका है।"*[14] आचार्य शुक्ल को सांप्रदायिक सिद्ध करने के प्रयास में नामवर सिंह इन पंक्तियों का हवाला देना जरूरी नहीं समझते। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आचार्य द्विवेदी भक्ति साहित्य की अपनी व्याख्या में इन दो बिंदुओं का व्यवस्थित विस्तार करते हैं, नामवर सिंह इस साझेपन का भी संकेत नहीं करते। आचार्य द्विवेदी द्वारा इस्लाम के प्रभाव से अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण भारत में भक्ति के उदय का प्रश्न उठाने से आचार्य शुक्ल की व्याख्या खंडित मान ली जाती है, जबकि आचार्य शुक्ल की व्याख्या का तीसरा महत्त्वपूर्ण बिंदु यही है कि दक्षिण भारत की भक्ति ने ही उत्तर भारत में विस्तृत रूप धारण कर लिया।

भक्ति आंदोलन को इस्लामी आक्रमण का परिणाम बताने वाली मान्यता के विरुद्ध आचार्य द्विवेदी यह सवाल तो उठाते हैं कि भक्ति अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण भारत में क्यों पैदा हुई, लेकिन इस सवाल का कोई संतोषजनक उत्तर वे खुद नहीं देते। आचार्य द्विवेदी के विश्लेषण में सामाजिक-सांस्कृतिक और धार्मिक परिवेश का विवरण तो बहुत संतुलित और भरा पूरा है, लेकिन फिर भी वह इस सवाल का पर्याप्त उत्तर नहीं दे पाता कि चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में ही भक्ति आंदोलन की शुरुआत क्यों हुई। आचार्य द्विवेदी ने लिखा है कि - *"अलवारों का भक्तिवाद भी जनसाधारण की वस्तु था, जो शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारत में फैल गया।*

भक्तों के अनुभूतिगम्य सहज सत्य को बाद के आचार्यों ने दर्शन का क्रमबद्ध और सुचिंतित रूप दिया। यही बात उत्तर भारत के विषय में भी सत्य है। यहाँ भी साधारण जनता के भीतर जो धर्म-भावना वर्तमान थी, उसने शास्त्र की अंगुली पकड़कर अपने को शक्तिशाली रूप में प्रकट किया।"[15]

भक्ति साहित्य, विशेषकर कबीर का इतनी संवेदनशीलता के साथ अध्ययन करने वाले आचार्य द्विवेदी का यह कथन चकित कर देने वाला है। उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन की शुरुआत निर्गुण संतों द्वारा हुई, जिनकी बानियों में शास्त्र की उपेक्षा का भाव एकदम प्रत्यक्ष है, फिर भी आचार्य द्विवेदी को लगता है कि भक्ति आंदोलन शास्त्र की अंगुली पकड़कर खड़ा हुआ। आचार्य द्विवेदी भक्ति आंदोलन को 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' मानते हैं। उनके इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण कथन को नामवर सिंह ने भी उनके निष्कर्ष के तौर पर उद्धृत किया है *"भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्रों में स्वभावतः ही लोप की ओर झुक गया था। यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिये जा रही थी।"*[16]

भक्ति को 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' मानना या यह कहना कि हिंदू शास्त्रों के भीतर की शक्ति ने उसे भक्ति आंदोलन में परिणत कर दिया, इसे स्वीकार करना कम से कम नामवर सिंह के लिये संभव नहीं है, जबकि आचार्य द्विवेदी के कथन का अर्थ यही है। अपने पूरे विवेचन में आचार्य द्विवेदी का जोर परंपराओं की निरंतरता पर रहा है, भिन्नता की चर्चा वे करते हैं, लेकिन

वह इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उसे अलगाव या टूट के तौर पर स्वीकार किया जाए। भक्ति आंदोलन को स्वाभाविक विकास मान लेने के बाद उसके ऐतिहासिक दौर की विशिष्टता की पहचान जिसने उसे जन्म दिया, आचार्य द्विवेदी के लिये अनिवार्य नहीं रह जाती। ऐसे में इस्लाम के प्रभाव को चार आना मानना या उसके बिना भी भक्ति आंदोलन को संभव मानना उनके लिये स्वाभाविक हो जाता है।

भक्ति आंदोलन के संदर्भ में गोपेश्वर सिंह ने 'भक्ति द्राविड़ उपजी लाए रामानंद, परगट किया कबीर ने, सप्तद्वीप नवखण्ड' इस दोहे की प्रामाणिकता पर सवाल करते हुए उत्तर भारत की भक्ति के दक्षिण से आने की मान्यता पर संदेह जाहिर करते हैं। इसके तर्क में उन्होंने बताया कि रामानंद कभी दक्षिण गए ही नहीं थे। लेकिन इस दोहे के पदक्रम को अलग-अलग पढ़ने से कुछ और अर्थ ही ध्वनित होता है। 'भक्ति द्राविड़ उपजी' अर्थात् भक्ति द्रविड़ प्रदेश में पैदा हुई, इस मान्यता पर विद्वानों में कोई मत वैभिन्नय नहीं है। समस्या 'लाए रामानंद' पद के अर्थ से है। रामानंद कभी दक्षिण नहीं गए होंगे, ऐसा जरूर हो सकता है। चूँकि यह एक अनुमान है इसलिए अनुमान आधारित तर्क यह भी हो सकता है कि रामानंद दक्षिण नहीं गए होगें लेकिन रामानुजाचार्य उत्तर भारत में आए रहे होगें इससे इनकार नहीं किया जा सकता। जैसा कि विख्यात है कि रामानुजाचार्य ने भक्ति के प्रसार के लिए सम्पूर्ण भारतवर्ष में भ्रमण किया और यह भी विख्यात है कि रामानंद रामानुजाचार्य की शिष्य परंपरा में हुए तो रामानंद ने उस शिष्य परंपरा से भक्ति को ग्रहण किया होगा, इस पर कोई दो राय नहीं होनी चाहिए। 'लाए रामानन्द' पद का अर्थ इस दृष्टि से निकालना चाहिए। हाँ, इस सवाल का जवाब अभी भी अनुत्तरित है कि भक्ति को दक्षिण से उत्तर आने में लगभग तीन चार सौ साल क्यों लगे?

निर्गुण भक्ति के उद्‌भव के संबंध में एक और प्रश्न विचारणीय है जिसकी चर्चा इतिहास लेखन में कम होती है। क्या दक्षिण भारत की तरह ही उत्तर भारत में भक्ति के समानान्तर बौद्ध धर्म का अस्तित्व था? अगर था तो उसका स्वरूप कैसा था और भक्ति के उद्‌भव में उसकी कोई भूमिका थी या नहीं? अगर थी तो वह भूमिका किस तरह की थी? यह कुछ सवाल हैं जिनके जवाब से निर्गुण भक्ति के उद्‌भव के संबंध में नए सूत्र मिल सकते हैं। तथ्यों और प्रमाणों की खोज होनी चाहिए। बौद्ध धर्म के विकृत रूप वज्रयानियों, नाथों, सिद्धों से निर्गुण भक्ति प्रेरणा तो ग्रहण कर रहा था किन्तु क्या ऐसा नहीं हो सकता कि बौद्ध धर्म के बढ़ते प्रभाव के कारण जिस तरह से दक्षिण भारत में भक्ति का उद्‌भव हुआ वैसी ही परिस्थितियाँ उत्तर भारत में भी उत्पन्न हुयी हों। यह शोध का विषय है। हो सकता है कि जिस तरह से निर्गुण भक्ति को इस्लाम से उत्पन्न सांस्कृतिक संकट से बचाव की सजग चेष्टा के रूप में देखा गया, वहीं बौद्ध धर्म से भी बचाव की सजग चेष्टा हो सकती है।

3.2 निर्गुण भक्ति काव्य : दार्शनिक स्रोत

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति कालीन कविता अपने अदम्य आकर्षण के कारण सर्वाधिक पढ़ी, समझी और विवेचित की गयी। उसके उदय की पृष्ठभूमि, भेद-अभेद, प्रासंगिकता ये कुछ मुख्य मुद्दे रहे, जिन पर विद्वानों द्वारा खूब लिखा गया, लेकिन भक्ति काव्य के दार्शनिक परिप्रेक्ष्य की चर्चा आलोचकों के लिए अछूत ही रही। भक्तिकालीन कविता के उदय की पृष्ठभूमि ही ऐसी रही कि आलोचकों की रुचि सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य पर ही चर्चा करने की रही। भक्तिकालीन काव्य और कवि जितनी प्रेरणा अपने सामाजिक परिवेश से ग्रहण कर रहे थे उतनी ही प्रेरणा भारतीय धर्म साधना की चली आ रही सुदीर्घ परम्परा से भी ग्रहण कर रहे थे और अपने रचनात्मक कर्म को एक नयी ऊँचाई दे रहे थे। इतना ही नहीं भक्तिकालीन कवियों ने भारतीय दर्शन के बारे में भारतीय जनमानस की सांस्कृतिक समझ को कहीं-कहीं बदला और कहीं-कहीं विकसित भी किया। अद्वैतवाद, विशिष्टद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद इत्यादि वे दर्शन हैं जिनसे भक्तिकालीन कवि प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे।

भक्तिकाव्य के दार्शनिक परिप्रेक्ष्य क्या है? इस पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इस काव्य के मूल में कौन-सी दार्शनिक अवधारणाएँ रही है और उन अवधारणाओं ने कविता को किस सीमा तक प्रभावित, पुष्पित और पल्लवित किया, यह अध्ययन का विषय रहा। चूँकि भक्तिकालीन कवियों ने परम तत्त्व जीव, माया, सृष्टि इत्यादि पर अपने विचार व्यक्त किए इसलिए इन शब्दावलियों के उद्‌गम स्रोतों के बारे में जानना आवश्यक हो जाता है। जहाँ तक इन

शब्दावलियों के उद्‌गम स्रोतों की बात है तो उनमें अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, द्वैतवाद, सिद्ध और नाथ दर्शन प्रमुख है।

शंकराचार्य का दर्शन 'अद्वैतवाद' के रूप में ख्यातिलब्ध है। अद्वैतवाद की मुख्य अवधारणा यह है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य और एकमात्र सत्ता है। जीव और ब्रह्म एक ही है। माया के वशीभूत होकर जीव अपने को ब्रह्म से इतर समझने लगता है, लेकिन वास्तव में वह ब्रह्म से पृथक् नहीं है। जगत् मिथ्या है। माया दृश्यात्मक जगत् का विकार है। अविद्या के कारण जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और अद्वैतवादी चिन्तन से इस अविद्या का नाश होता है। भक्ति को विद्या माया माना गया है जो ज्ञान प्राप्ति का साधन है। बिना ज्ञान के मोक्ष असम्भव है।

अद्वैतवाद के विरोध में जो दर्शन उद्‌भूत हुए उनमें 'विशिष्टाद्वैतवाद' प्रमुख है। यह दर्शन रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित है। अद्वैतवाद के प्रभाव से जो बुद्धिवाद का बोलबाला हो चला था उसमें भक्ति को गौण स्थान प्राप्त था। रामानुज ने शंकर की अपेक्षा अधिक व्यवहारिक दार्शनिक मीमांसा प्रस्तुत की। आत्मा और परमात्मा एक नहीं है। आत्मा और संसार ईश्वर के अंश है। इसलिए उनकी भी वास्तविक सत्ता है। अतः आत्मा भी सत्य है और जगत् भी। ईश्वर और ब्रह्म जिसमें कोई भेद नहीं है और वह सगुण है। सत्, चित् और आनन्द उसके गुण हैं। ईश्वर जो सगुण सविशेष है। जगत् उस ईश्वर की लीलाभूमि है।

ईश्वर की भक्ति जीव के लिए परम पुरुषार्थ है। शंकर ज्ञान को मुक्ति का साधन मानते थे किन्तु रामानुज भक्ति को मुक्ति का साधन मानते हैं। ज्ञान केवल सहायक तत्त्व है।

वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद है। तात्त्विक रूप से यह दर्शन भी अद्वैतवाद ही है, शुद्ध शब्द का प्रयोग इसके विशेषण के रूप में किया गया है। ब्रह्म और ईश्वर एक है। श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म है। सम्पूर्ण सृष्टि सत्, चित् और आनंद गुणों से निर्मित है और ईश्वर इन तीनों गुणों से परिपूर्ण है। यह दर्शन शंकर के मायावाद का खंडन करता है। दर्शन मे जो शुद्धाद्वैत है, वह व्यवहार में 'पुष्टि मार्ग' कहा जाता है। पुष्टि का अर्थ है– ईश्वर के अनुग्रह प्रसाद, अनुकम्पा अथवा कृपा से पुष्ट होने वाली भक्ति।

पूर्व मध्यकाल में जिस भक्तिधारा ने अपने आन्दोलनात्मक शक्ति सामर्थ्य से समूचे राष्ट्र की शिराओं में नया रक्त प्रवाहित किया, उसके दार्शनिक स्रोतों के संबंध में विभिन्न आचार्यों के अभिमतों में वैभिन्य है। ग्रियर्सन भक्ति के मूल में ईसाइयत की परम्परा देखते हैं, किन्तु कालान्तर के आचार्यों ने उनकी विचारधारा का खंडन किया व भक्ति के संबध में विशद अध्ययन प्रस्तुत करते हुए प्रमाणित किया कि इसकी जड़ें सदियों पीछे के भारतीय जमीन में थी। इस विषय पर सर्वप्रथम प्रमाणिक कार्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा किया गया। उन्होने भक्ति के विकास को व्याख्यायित विश्लेषित करते हुए उसके संबंध में जो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला, वह कालान्तर के सभी विद्वानों धीरेन्द्र वर्मा, नगेन्द्र, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नामवर सिंह आदि को मान्य हुआ। आचार्य द्विवेदी का कहना है कि भक्ति काव्य में लोक जीवन का स्वाभाविक उच्छवास मिलता हे। गोया कि भक्ति लोक चिन्ता की स्वाभाविक विकास धारा का परिणाम है।

यह सच है कि यदि हम परम्परा की उपेक्षा कर दे तो हमारेः वर्तमान का इतिहास अधर में लटका हुआ प्रतीत होगा। इसीलिए जब भक्ति के विकास क्रम

को लक्षित करते हुए आचार्य शुक्ल सिद्धों नाथों के साहित्य को यह कहकर उपेक्षित कर देते हैं कि यह साम्प्रदायिक साहित्य है तो आचार्य द्विवेदी इसका कड़ा प्रतिवाद करते हुए कहते हैं- 'यदि हम सिद्धों और नाथों के साहित्य को छोड़ दें तो भक्ति काल का समूचा साहित्य जड़ से कटे हुए तने के समान अलग-थलग पड जायेगा।' इसीलिए ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार भक्ति काव्य की पूर्वापर स्थिति को गंभीरता के साथ जानना परखना आवश्यक हो गया।

सर्वप्रथम भक्ति का बीज वैदिक काल के कर्मकाण्डीय यज्ञों में मिलता है। वैदिक ऋचाओं का पाठ भक्ति पूर्वक ही किया जाता था। यद्यपि उस कालखण्ड मे इसका कोई दार्शनिक आधार नहीं निर्मित हुआ था। पुनश्च उपनिषद् काल में सर्वप्रथम श्वेताश्वतर उपनिषद् में इन शब्द का प्रयोग मिलता है लेकिन उस कालखण्ड में भी भक्ति की व्यावहारिक व्याख्या नहीं प्राप्त होती है। भक्ति का विशेष रूप से विकास पुराने काल में हुआ। संस्कृत ग्रन्थ रामायण, भागवत भक्ति के ग्रन्थ बने। उपनिषदों के तर्ज पर भक्ति सूत्रों की रचना हुई जिनमें नारद भक्ति सूत्र और शण्डिल्य सूत्र प्रसिद्ध है। भक्ति का चरम आदर्श श्रीमद्भागवत में ही निर्मित हुआ। नारद भक्ति में भी भागवत वर्णित भक्ति को ही आधार बनाया गया। यथा ब्रजगोपिकानाम् (भक्ति वैसी ही होनी चाहिए जैसी ब्रज के गोपियों की थी) सा परम प्रेमरूपा यल्लब्ध्वा पुमान अमृतों भवति।

बुद्ध के अवतरण के समय पौराणिक भक्ति-भगवान विष्णु की भक्ति प्रचलित थी। किन्तु उस समय भी याज्ञिक कर्मकाण्डों की भूमिका वही थी। बुद्ध ने धर्म-चक्र प्रवर्तन के द्वारा अनूठी दार्शनिक क्रान्ति प्रस्तुत की जिसमें समाज की

रूढ़िगत व्यवस्था के समक्ष बहुत बड़ा प्रश्न चिह्न खड़ा कर दिया। बुद्ध की दार्शनिक क्रान्ति का असर समूचे समाज की जीवन पद्धति पर इस प्रकार पड़ा कि भारतीय जगत् कर्मकाण्डों से चिन्तन की तरफ अग्रसर होने लगी। कालान्तर में जब बौद्ध धर्म महायान और हीनयान में बँट गया और वज्रयान के अन्तर्गत सहज साधना चल पड़ी, शाक्तों की तरह तंत्र, अभिचार और व्याभिचार चलने लगे तो नाथ मुनियों का प्रभाव बढ़ा। वे नाथमुनि हठयोग का सिद्धान्त लेकर आये। यद्यपि बौद्ध धर्म के चौरासी सिद्धों ने बुद्ध प्रवर्तित नूतन सामाजिक सोच को एक विशिष्ट तेवर ही प्रदान किया, सामाजिक परिवर्तन की भूमिका में कुछ न कुछ जोड़ा ही लेकिन इसके बावजूद किंचित सिद्ध अपने अमर्यादित आचरण के कारण जनता को प्रकृत धर्म के धरातल पर नहीं ला सके। योगी गोरखनाथ निवृत्तिनाथ आदि बौद्धों की विकृत सहज साधना का परिहास कर इन्द्रियों पर कठोर संयम का उपदेश देते हैं। गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित हठयोग, षटचक्र और कुण्डलिनी का विधान कालान्तर के सन्त मत पर अपना पूरा-पूरा प्रभाव डालता है। यद्यपि नाथों की योग साधना बौद्धों एवं शाक्तों की विकृत साधना को पाठ पढ़ाने के लिए अस्तित्व में आती है, किन्तु आगे चलकर केवल बाह्योन्मुखी रहने के कारण ही वह समाज के अंतरंग जीवन पर कोई सकारात्मक छाप नहीं छोड़ सकी। नाथ योगियों की हठ योग साधना महज कायिक साधना बनकर रह गयी। इसीलिए कालान्तर में कबीर अवधू को फटकार कर सच्चे योग का मर्म समझाते हैं।

दक्षिण भारत, दार्शनिक आचार्यों की परम्परा की दृष्टि से बड़ा समृद्ध रहा और कालान्तर में भक्ति जो आन्दोलन का स्वरूप पा सकी, उसमें निश्चित ही इन दार्शनिक आचार्यों का योगदान रहा। आठवीं शती के आस-पास आदि शंकराचार्य ने

अद्वैतवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत कर सामाजिक विश्रृंखलता को दूर करना चाहा। अद्वैतवाद ने दार्शनिक धरातल पर भेद को तो खण्डित ही किया, बौद्धों के अनीश्वरवाद को भी खण्डित किया, साथ ही साथ सामाजिक धरातल पर राष्ट्रीय एकता के निमित्त सार्थक उपक्रम प्रस्तुत किया। यद्यपि अद्वैतवाद भक्ति को अविद्या माया के अंतर्गत रखना है। लेकिन मत की क्रान्तिकारी दार्शनिक भूमिका में सहज ही दृष्टिगोचर होता है कि सन्तों को निर्गुण भक्ति के लिए अद्वैतवाद बहुत ही मददगार सिद्ध हुआ। ग्यारहवीं सदी में रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत नामक दार्शनिक सिद्धान्त दिया, कालान्तर में मध्वाचार्य का द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत एवं वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद भक्ति को ऐसी सुदृढ़ दार्शनिक भूमि देते है, जिसने कि दार्शनिक अस्मिता में भी भक्ति अक्षुण्ण सत्ता प्राप्त कर ली। दार्शनिक दृष्टिकोण से ग्यारहवीं सदी भक्ति के लिए सक्रान्ति का काल है क्योंकि प्रथम बार इतने विशद धरातल पर गहन गम्भीर दार्शनिक विवेचना के साथ कोई आचार्य ज्ञान के समक्ष भक्ति का मत लेकर खड़ा हुआ। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, सारे आचार्यों ने अद्वैतवाद का खण्डन करके भक्ति की सर्वोपरि सत्ता को प्रतिष्ठित किया। रामानुजाचार्य की ही परम्परा में रामानन्द हुए और रामानन्द की परम्परा में कबीरदास हुए।

भक्ति की निर्गुण परम्परा सीधे सिद्धों और नाथों की परम्परा से जुड़ती है, किन्तु अपनी मौलिकता का तेज लिए हुए। सिद्धों और नाथों के यहाँ कर्मकाण्डों का खण्डन, रूढ़ व्यवस्था का खण्डन और योग पद्धति अवश्य है पर निर्गुण भक्ति जैसी चीज नहीं।

निर्गुण आंदोलन अपनी पूरी महिमा के साथ कबीर के इर्द-गिर्द ही प्रकट हुआ और उन्हीं की रचनात्मक सामर्थ्य से भव्यता प्राप्त कर सका। किन्तु मध्यकाल

में ही कबीर के अलावा रैदास, दादू, नानक, धर्मदास आदि के यहाँ आंदोलनात्मक रूप में विस्तार प्राप्त करने लगा और आगे चलकर भीखा साहब, पलटू दास से होते हुए सहजो बाई, जगजीवन साहब आदि के यहाँ तक 18वीं-19वीं सदी तक यह आंदोलन आपना विस्तार प्राप्त करता है। वर्तमान में निर्गुण मत का आंदोलनात्मक स्वरूप तो नहीं शेष है परंतु निर्गुण विचारधारा परंपरागत निर्गुण पंथो में विद्यमान चली आ रही है। मध्यकालीन निर्गुणधारा में सुंदरदास को छोड़कर प्राय: अन्य संत अशिक्षित हैं। निश्चित ही वे दार्शनिक नहीं हैं लेकिन सत्संग के द्वारा अर्जित जान और साधना के द्वारा प्राप्त अन्तर्दृष्टि के आधार पर उनकी विचारधाराओं से जो दार्शनिक मान्यताएं निष्पन्न होती हैं, वे निम्नलिखित हैं-

❖ परमात्मा निर्गुण एवं निराकार है वह अवतारी परमात्मा नहीं होता-

'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम को मरम है आना।'

❖ निर्गुण निराकार बल की भक्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है-

'प्रभु जो तुम चंदन हम पानी जाकी अंग-अंग वाम समानी।'

❖ जीव मूलत- ब्रह्म ही है किन्तु माया के कारण उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है, भक्ति से ही उसके कर्म बंधन नष्ट होते हैं और वह अपने ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता हे, इसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं। परमात्मा से एक होने की स्थिति वर्णनातीत है- Beyond Mention.

'जोई था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय....।'

❖ सभी प्रकार के कर्मकांड मिथ्या हैं, सामाजिक भेदभाव मिथ्या है मनुष्य को सत्कर्म करते हुए परमात्मा की भक्ति करनी चाहिए। भक्ति के लिए कर्मकाण्ड महज पाखण्ड है। सामाजिक भेदभाव विष तुल्य हैं, पंच विकार विष तुल्य हैं, केवल प्रेम ही भक्ति का हेतु है-

'जो कछु करौ सो सेवा..., यह तो घर है प्रेम का ग्वाला का घर नाहिं।।'

सभी निर्गुणियाँ संत मूलतः साधक है, ब्रह्म मार्ग के पथिक है, इनकी साधना में निम्नलिखित तत्त्वों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है-

- नाथ पंथी योगियों की योग साधनाएँ
- नारदी भक्ति तथा पौराणिक भक्ति पद्धतियाँ
- सूफियों की प्रेम की पीर।

यद्यपि यहाँ नई बात दिखाई पड़ रही थी कि जो निर्गुण ब्रह्म परंपरागत साधना पद्धति में महज चिंतन का विषय था, वह यहाँ भक्ति का विषय बन गया है, आचार्य शुक्ल के अनुसार सूफियों के प्रभाव के कारण ऐसा हुआ। सूफियों के अपेक्षाकृत कहीं गहरायी से वेदांत व अद्वैत मूलक चिंतन तथा नाथ पंथियों की योग मूलक साधन और वैष्णवों को दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा कांता भक्ति मूलक पद्धतियों का प्रभाव विद्यमान है। कबीर स्वयं कहते हैं कि यदि चाण्डाल जाति का वैष्णव मिल गया तो मानो गोपाल मिल गया -

'साकत बाभन मति मिले वैष्णव मिले चण्डाल।
अंकमाल दे भेटिये मानो मिले गुपाल।।'

समूचे निर्गुण पंथ की साधना प्रेम-मूलक है।

'प्रभु जी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग-अंग वास समानी।'

रैदास की यह पंक्ति मानो समूची निर्गुण भक्ति परंपरा का नियामक सूत्र है। निर्गुण संत सहज साधना पर जोर देते हैं जो सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से रचनात्मक हैं, गोकि परमात्मा की साधना हेतु समाज के त्याग या कर्म के त्याग की आवश्यकता नहीं। बहुत से निर्गुणी संत प्रायः गृहस्थी योगी है। यद्यपि कालांतर में इस मत में भी संन्यास प्रथा चली परंतु मध्यकाल में जहाँ कि इसके आंदोलनात्मक रूप की पहचान सुनिश्चित होती है, वहाँ-वहाँ इस मत के अंदर संन्यास का महत्त्व नहीं है, निर्गुण भक्ति योग मूलक भक्ति के रूप में दृष्टिगोचर होती है अर्थात् यहाँ भक्ति और योग का विलक्षण संगम दृष्टिगोचर होता है -

'चंद सूर नहि रति दिवस नहीं घरनि अकाशन भाई' (रैदास)

'सुरति समानी निरति मे, निरति रही निरधार।
सुरति निरति भया, तब खुले स्वयँभू द्वार।।' (कबीर)

मध्यकालीन भक्ति आंदोलन में संत काव्यधारा के पश्चात् सूफी काव्य अस्तित्व में आता है। इसके उद्‌भव के सम्बन्ध में इतिहासकारों का मत है कि ग्यारहवीं शती में 'अलहुज्जरी' नामक सूफी ईरान, अफगानिस्तान होने हुए भारतवर्ष आया। वह अपने साथ कुछ सूफी ग्रन्थ भी ले आया। उसका मूल उद्देश्य था भारतवर्ष में सूफी धर्म का प्रचार-प्रसार। उसका यह उद्देश्य संगठित तरीके से बारहवीं शती में फलीभूत होते हुए दिखाई पड़ता है।

12वीं सदी मे 'चिश्ती सम्प्रदाय' और 'सुहरावर्दी सम्प्रदाय' तथा पंद्रहवीं सदी में 'कादरी सम्प्रदाय' और 'नक्सबंदी संप्रदाय' अस्तित्व में आए। ये संप्रदाय सूफी विचारधारा को आंदोलनात्मक स्तर पर प्रचारित-प्रसारित करने लगे। वर्तमान में

सूफियों के तेरह से भी अधिक सिलसिले (संप्रदाय) है। सूफी संप्रदाय को इस्लाम के उदारवादी रहस्यवादी शाखा मे भी जाना जाता है। कुछेक विद्वान इसके उद्‌भव के मूल में ईरान की कबीलाई जाति को जिम्मेवार मानते हैं। उदाहरण के लिए जब कबीलों के तरूण, तरूणियों के प्रेमावेश में नैराश्य की स्थिति में मदिरा आदि का सेवन करने लगे होंगे तो कबीले के बड़े-बूढ़ों ने इन सम्बन्धों को खुदाई के रूपक का जामा दे दिया- 'मदिरा ईश्वरीय प्रेम की मदिरा है और माशूका खुदा।'

स्पष्ट देखा जा सकता है कि सूफी कविता और गजलों में मदिरा, साकी आदि के रूपक भरे पड़े है। जब एक विराट संगठित धर्म इस्लाम अस्तित्व में आया होगा तो यह धारा उसी में मिल गई होगी और दार्शनिक स्तर पर परिष्कृत होकर वर्तमान सूफी संप्रदाय का रूप ग्रहण की होगी। प्रश्न उठता है कि सूफियों में खुदा को माशूका के रूप में क्यों देखा जाता है? इसका उत्तर सामाजिक मनोवैज्ञानिक धरातल पर पाया जाता है। चूँकि लौकिक प्रेम के धरातल से ही उस अलौकिक स्तर तक पहुँचना सुलभ था। कारण कि, मानसिक प्रवृत्तियाँ लौकिक प्रेम के स्तर पर अभ्यस्त थी इसलिए भी माशूका में खुदाई की छवि देखी गई। सामाजिक दृष्टि से पुरुषवादी व्यवस्था में स्त्री इतनी स्वतंत्र नहीं थी कि प्रेम में पहल उसकी तरफ से हो। प्रेम का सारा उन्माद पुरुषों के ही चरित्र में अभिव्यक्ति पाता था इसलिए खुदा को स्त्री का रूप माना गया जिससे साधन विकल, होकर उसकी ओर दौड़ पड़े। जहाँ पहले-पहले लौकिक स्तर पर प्रेम के धरातल पर प्रेयसी में खुदाई की छवि परिकल्पित की गयी वहीं जब दार्शनिक स्तर पर इसका संक्रमण किया गया तो खुदा को माशूका की छवि दी गयी, जिसका सीधा आशय यह था कि एक प्रेमी अपनी माशूका को पाने के लिए जितना व्याकुल हो सकता

है, खुदा को पाने के लिए वैसी ही आसक्ति और विकलता की जरूरत है। प्रेम की इस पीर को ही सूफी दर्शन कहा गया है। प्रेम के मतवालों को सूफी कहा गया। सूफी दर्शन में लोक और परलोक, जगत् और ईश्वर, ईश्वर और माया आदि की स्थितियाँ एक-दूसरे में संपृक्त हैं। जगत् को खुदा का नूर बताया गया है। वैसे तो उपनिषदों में यह सिद्धान्त आ जाता है कि सृष्टि परमात्मा की अभिव्यक्ति है। किन्तु उपनिषदों में इस सिद्धान्त के बावजूद जगत् में खुदाई की छवि देखते हुए उसमें अमूर्त सौन्दर्य राशि का दर्शन किया गया। निस्संदेह हिन्दुओं के पौराणिक अवतारवाद की संकल्पना सूफियों के उद्भव से पहले की है। इस सगुणवाद में जिस प्रकार जगत् को अनुरक्ति और विरक्ति के संधि पर देखने की परम्परा है अर्थात् जगत् को ईश्वर की लीलाभूमि मानकर उसे उत्सवधर्मी नजरिए से देखा जाता है तथा आध्यात्मिक उत्थान के लिए सांसारिक विषयों का भी ध्यान रखा जाता है ठीक उसी प्रकार सूफियों के यहाँ जगत् के प्रति अनुरक्ति और विरक्ति का भाव दृष्टिगोचर होता है। जाहिर है कि सूफियों ने जगत् के प्रति प्रेय और श्रेय का यह भाव हिन्दुओं के सगुण पंथ से लिया होगा।

सूफी शब्द की व्यत्पत्ति सफा, सूफ, सफ, सोफिया आदि शब्दों से मानी जाती है जिसके अर्थ क्रमशः पंक्ति, ऊन, मस्जिद का चबूतरा तथा ज्ञान माना जाता है अर्थात् जो खुदा के निर्णय के दिन अपने पवित्र कर्मों के कारण प्रथम पंक्ति के अधिकारी बने वे सूफी कहलाए, जो ऊन का झिंगोला पहने हुए परमात्मा के प्रेम मे विकल रहते थे, उसी के प्रेम के गीत गाया करते थे, वे सूफी कहलाए। जो लोग यतियों जैसा जीवन व्यतीत करते थे, मस्जिद के चबूतरों पर रात्रि व्यतीत करते थे, वे सूफी कहलाए। खुदा के प्रेम में जिनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश प्रकाशित हो चुका था वे सूफी कहलाए।

निस्संदेह सूफी संप्रदाय आध्यात्मिक साधना का सरल, निश्छल प्रेममय और धर्मनिरपेक्ष मार्ग लेकर प्रस्तुत होता है। सूफियों की साधना में चार सोपानों का उल्लेख मिलता है- शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत। इन सोपानों को क्रमशः कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, परमात्मा में साक्षात्कार और मोक्ष की अवस्था मानी जा सकती है। इसमें इस्लाम की दखल केवल शरीयत तक है। शरीयत के आगे सूफी साधना, रोजा, नमाज एवं अन्य रूढ़ियों से मुक्त होकर अपना रास्ता खुद तय करती है और इसी धरातल पर इसे इस्लाम की रहस्यवादी धारा अथवा इस्लाम के खिलाफ आध्यात्मिक धरातल में विद्रोह के फलस्वरूप उपजे पंथ के रूप में देखा जाता है। इतिहास के स्तरों पर औरंगजेब और दाराशिकोह (सूफी मत को मानने वाला) की मान्यताओं के टकरावों और संघर्ष तथा उसकी ट्रैजिक परिणति मे यह अन्तर साफ नजर आता है कि इस्लाम की रूढ़िगत मान्यताओं से सूफी सम्प्रदाय कितना छूट माँगता है। सूफी सिलसिलों मे जो सूफी साधना प्रचलित हुई उसमें निश्चित ही कृष्ण-राधा विषयक रति के गीत भी गाए गए और योग साधना तो बड़े ही प्रत्यक्ष रूप में अभ्यास में लाई जाती थी।

संत काव्यधारा के कवि और सूफी काव्यधारा के कवियों में यह एक स्पष्ट अंतर लक्षित किया जा सकता है कि प्रायः सभी संत कवि साधक थे। आध्यात्मिक ज्ञान से युक्त किन्तु सभी सूफी कवि साधक नहीं थे। गोया कि सूफी धारा में सूफी साधना सीधे सूफी सिलसिलों से सम्बन्धित है, जिनका उद्देश्य है सूफी धर्म का प्रचार प्रसार, किन्तु सूफी काव्य सीधे सूफी सिलसिलों से सम्बद्ध नहीं है, उनका उद्धेश्य सूफी धर्म का प्रचार-प्रसार ही है। सूफी कवियों की प्रतिबद्धता

सूफी धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ रही हो, ऐसा साबित नहीं होता बल्कि तुलनात्मक दृष्टि से उनका सृजन कविता, कला, मानव संस्कृति की अपनी मांगों से नियमित निर्देशित होता है फिर अगर जायसी के समर्थ समीक्षक विजय देवनारायण 'साही' इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं तो 'कोई आश्चर्य नहीं है कि जायसी कहीं गहरे सूफी हो तो हों लेकिन उनकी कविता से उनका सूफी नहीं झलकता है बल्कि कविता स्वयं की स्वतंत्र माँगों से निर्देशित नियमित होती चलती है।'

3.3 निर्गुण और सगुण : भेद

मध्यकालीन हिन्दी कविता में निर्गुण-सगुण विभाजन के इतिहास लेखन का अध्ययन करने पर ऐसा लगता है कि कुछ इतिहासकार इस विभाजन को थोपते हैं तो कुछ इतिहासकार इसको एक मानने पर तुले रहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य में भक्ति काव्य को एक 'कैनन' के रूप में देखने की कोशिश कर रहे थे, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भारतीय चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास देख रहे थे तो आचार्य पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल एक संगठित दार्शनिक परम्परा की खोज करते हुए निर्गुण भक्ति परम्परा की रूपरेखा बना रहे थे। ऐसा लगता है कि ये विद्वान यह मानकर चल रहे थे कि निर्गुण और सगुण भक्ति मध्यकाल में मुसलमानों के आक्रमण, इस्लाम के आगमन और जड़ वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रभाव में हिन्दू समाज की विकृति की दो अलग-अलग प्रक्रियाओं के रूप में समझ रहे थे और इसी समझ के आधार पर भक्ति आन्दोलन को सगुण और निर्गुण दो भागों में बाँट रहे थे। यह व्याख्याएँ कहीं-कहीं सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर और कहीं-कहीं टेक्स्ट आधारित हैं।

'निर्गुण' और 'सगुण' अलग-अलग परम्पराएँ थीं, ज्यादातर विद्वानों में इस बात पर सहमति है। यह बात बहुत हद तक सही भी है। लेकिन इतिहासकार के समक्ष समस्या तब होती है जब भक्ति काल का कोई कवि निर्गुण और सगुण दोनों ही ईश्वर की उपासना एक ही भाव से करते दिखते हैं।

ऐसे पदों का अध्ययन करने से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि भक्ति आंदोलन में तथाकथित निर्गुण और 'सगुण' परम्पराओं का विभाजन कोई

बहुत पहले से तय और स्पष्ट नहीं था। बल्कि लगभग 300 सालों के लम्बे अन्तराल में कुछ तत्कालीन और सामाजिक परिस्थितियों की जरूरतों और कुछ कवियों की सामाजिक पृष्ठभूमि की प्राथमिकताओं के कारण यह विभाजन वृहत्तर होता गया होगा।

इस विभाजन का अध्ययन करने पर इतिहासकारों को इस लम्बी प्रक्रिया को समझना होगा कि वह कौन सी सामाजिक जरुरतें थीं जो इस विभाजन को और भी स्पष्ट करता गया क्योंकि निर्गुण और सगुण कवियों की कविता का अध्ययन करने पर एक बात स्पष्ट है कि ये कवि किसी विशेष संप्रदाय के सदस्य के रूप में काम नहीं कर रहे थे और न ही कविता रच रहे थे, दूसरा ये कवि न तो किसी दार्शनिक विचारधारा से सायास प्रेरित होकर रचनाएँ कर रहे थे और न तो किसी सैद्धान्तिक विचारधारा के निर्माण का आग्रह दिखता है और तीसरा इन कवियों के कविता में ऐसे तत्त्व मौजूद है कि कोई उन्हें सगुण का कवि कह सकता है और कोई उन्हें निर्गुण।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने निर्गुण और सगुण के विभाजन के कुछ मुख्य आधार गिनाएँ गए हैं-

- ❖ कवि के विचार में ईश्वर का स्वरूप।
- ❖ कवि के विचार में भक्ति साधना का स्वरूप।
- ❖ कवि की कविता का स्वरूप अर्थात् अभिव्यक्ति का स्वरूप- शैली, भाषा रूपक।
- ❖ कवि के विचार के पीछे सामाजिक विचारधारा का स्वरूप।

इन आधारों का अध्ययन करने में ही इतिहासकार बहुत घाल-मेल करते हैं और इन आधारों को पुष्ट करने वाले तत्त्वों को ले लेते हैं और दूसरे तत्त्वों को छोड़ देते हैं।

कबीर प्रखर निर्गुण कवि माने जाते हैं और प्रवर्तक भी। परन्तु कहीं-कहीं उनके पदों में सगुण की तरफ रुझान भी है। कबीर के मन में ईश्वर के स्वरूप को लेकर कोई अनिश्चितता नहीं है और वे अपने पदों में सगुण राम और निर्गुण राम को स्पष्ट करते हैं और उनके अवतार लेने का भी खंडन करते हैं। वे जन्म और मृत्यु से परे हैं। वे अकथ्य और गुणातीत है-

'देवी न देवा पूजा नहीं जाप। भाई न बंध माइ नहिं बाप।
गुण अतीत जस निरगुन आप। भ्रम जेबड़ी जग कीयौ साप।।'

कबीर के लिए परमात्मा हर जीव में व्याप्त है और जो इस माया रूपी संसार में उसे इधर-उधर खोज रहा है वो अपना जन्म अकारथ ही गँवा रहा है-

'ब्रह्म खोजत जनम गँवायो, सोइ राम घट भीतरि पायौ।
× × × × ×
कस्तूरी कुंडलि बसै मृग ढूढे बन माहि,
ऐसे घटि-घटि राम है, दुनिया देखे नाही।'

परन्तु कबीर की कविता में जिन सगुण तत्त्वों की बात उपर कर रहे थे उसे हम मुख्य रूप से रेखांकित कर सकते हैं- जैसे कबीर की कविता में जो ईश्वर भक्ति के लिए 'विनय' की शैली जो कभी-कभी जिद तक पहुँच जाती है। दूसरे कबीर की कविता में 'विरह भाव की प्रधानता' है जिसमें कबीर राम की प्रेमिका नारी का रूप ले लेते हैं तो उनकी भाषा में जो आने वाले रूपक, प्रतीत संकेत और बिम्ब बहुत ही व्यंजनात्मक और सजीव हो उठते हैं। जैसे-

'नैनो की करि कोठरी पुतली पलक बिछाय
पलकों की चिक डाल के पिय को लिया रिझाय
× × × × × ×
अँखड़िया झांई पड़ि, पंथ निहारि निहारी।
× × × × × ×
कबीर बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।'

ऐसे उद्धरणों से कबीर की कविता भरी पड़ी है। ऐसे में कोई इतिहासकार कबीर की रचनाओं का प्रयोग सगुण सम्प्रदायों के सन्दर्भ में करे इसकी सम्भावना बनी रहती है।

अब हम तुलसी के माध्यम से इस बात की पड़ताल करेंगे कि कैसे सगुण भक्त कवियों की कविता भी कभी-कभी इतिहास लेखन के सामने समस्या प्रस्तुत करती है। आधुनिक साहित्य इतिहासलेखन में तुलसीदास का चित्रण भक्ति आन्दोलन में सबसे कट्टर सगुण कवि के रूप में किया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं कि *"उन्होंने भारतीय लोकधर्म की सगुण धारा और उसमें पालित भारतीय अथवा वेद और श्रुति साहित्य की शुद्ध धारा की रक्षा की।"*[17]

लेकिन उनके लेखन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म-विचार, दर्शन और कभी-कभी साधना के स्तर पर भी तुलसीदास तथा निर्गुण कवियों के बीच काफी सहमति दिखाई देती है। तुलसीदास निर्विवाद रूप से सगुण कवि है लेकिन वे कहीं भी ईश्वर के निर्गुण रूप को अस्वीकार नहीं करते हैं। वे निर्गुण ब्रह्म को राम के उस रहस्य का ही एक पहलू मानते हैं जिसमें निर्गुण ब्रह्म, सगुण राम और राम का नाम तीनों निहित है। वे निर्गुण और सगुण राम में भेद नहीं मानते हैं-

'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा, गावदि मुनि पुरान बुध बेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुण सो होई।।'

और दोनों की एकता कैसे है इसका जवाब भी तुलसी देते हैं-

'जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल विलग नहिं जैसे।।'

तुसलीदास राम के 'नाम' को राम के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों से बड़ा मानते हैं और वे मानते हैं कि राम के नाम ने ज्यादा चमत्कारपूर्ण काम किए हैं -

'ब्रह्म राम ते नामु बड़, वर दायक वर दानि'।

ऐसे प्रसंगों में तुलसीदास निर्गुण के ज्यादा करीब दिखते हैं। इसके अतिरिक्त राम का नाम भव सागर को पार करने के लिए है, मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। ऐसे रूपक और विषय तुलसीदास तथा निर्गुण कवियों में समान रूप से प्रधानता पाते हैं।

मीरा के काव्य को पहली नजर में देखते हुए ऐसा लगता है कि कृष्ण के सगुण रूप की उपासना करती है, लेकिन इतिहास लेखन में समस्या तब पैदा होती है जब वे अपना गुरु 'रैदास' को बताती है। दूसरी तरफ परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संकलित पदों में मीरा छः वास्तविक और कल्पित भक्तों का उल्लेख करती है जिनका उल्लेख भक्तमाल में मिलता है- अजामिल, कबीर, नामदेव, करमाबाई, धन्ना तथा सदना जी। दिलचस्प बात है कि मीरा यहाँ कबीर और नामदेव जैसे निर्गुण भक्तों का उल्लेख करती है। एक ही कवि या एक ही रचना में निर्गुण और सगुण भक्ति दोनों एक साथ हो सकती है। एक रचनाकार की विचारधारा में निर्गुण और सगुण का सामंजस्य हो सकता है। यह उस रचनाकार का अन्तर्विरोध भी हो सकता है और विशेषता भी। इतिहास लेखन में इन अन्तर्विरोधों की चर्चा जरुर होनी चाहिए।

उदाहरणस्वरूप तुलसीदास ने बुद्धि के स्तर पर ईश्वर के निर्गुण और सगुण स्वरूपों का सामंजस्य किया है जबकि कबीर और रविदास ने संवेदना और सौन्दर्यबोध के स्तर पर ईश्वर के निर्गुण स्वरूप और 'सगुण' अभिव्यक्ति प्रणाली तथा प्रेम साधना का सामंजस्य किया। इस प्रकार हालांकि कुछ कवि 'निर्गुण' साधना से ज्यादा संबंध रखते हैं और कुछ कवि 'सगुण' साधना से फिर भी हर कवि में 'निर्गुण और सगुण' तत्त्वों का एक विशेष सामंजस्य मिलता है।

यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि भक्ति आन्दोलन के आरंभिक काल में (1300 ई.-1600 ई.) निर्गुण और सगुण का विभाजन बहुत निश्चित नहीं था। लेकिन इतिहास लेखन में आरंभिक काल से ही इस विभाजन का प्रक्षेपण किया जाता है।

ज्यादातर इतिहासकारों ने निर्गुण और सगुण के भेद को वैचारिक संघर्ष के रूप में चिह्नित किया है और निर्गुण को वर्णाश्रम विरोधी समाज सुधारक और सगुण को वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक के रूप में चिह्नित किया गया है। आचार्य शुक्ल, आचार्य द्विवेदी और पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने मध्यकालीन उत्तर भारत की भौतिक परिस्थितियों के साथ निर्गुण और सगुण के भेद को जोड़ने की कोशिश की। कहना न होगा निर्गुण परंपरा और सगुण परंपरा के भीतर अलग-अलग संप्रदायों के बीच चलने वाले द्वन्द्व पर उनका ध्यान नहीं गया।

निर्गुण परम्परा में सम्प्रदाय निर्माण की प्रक्रिया सगुण परम्परा से ज्यादा थी और उसके अपने अन्तर्विरोध मौजूद थे जिस ओर इतिहासकारों का ध्यान कम गया और हिन्दी साहित्य के इतिहास में तो इसकी चर्चा भी कम होती है।

'निर्गुण' तत्त्वों पर जोर देने और सगुण तत्त्वों का सचेत रूप से बहिष्कार करने के अलावा इस दौर के कुछ कवि और साधक खुले तौर पर अपने विचार और साधना प्रणाली को 'निर्गुण' परम्परा से जोड़ते हैं और एक अनुमानित 'सगुण' परंपरा से अपनी भिन्नता घोषित करते थे। सुन्दरदास लिखते हैं -

'दो रूप ब्रह्म के जाने, निर्गुण और सगुण पिछाने।
निर्गुण निज रूप नियारा, पुनि सगुण सत अवतारा।
निगुर्ण की भक्ति सुमन से, संतन की अरु तन से।'

सुन्दरदास के यहाँ निर्गुण-सगुण का स्पष्ट विभाजन है।

निर्गुण और सगुण के विभाजन की बहस सबसे पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के यहाँ देखी जाती है। उन्होंने निर्गुण और सगुण कवियों की जगह-जगह तुलना की और सगुण को लोक संग्रही और निर्गुण को लोक विरोधी बताया। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर का मूल्यांकन करते हुए निर्गुण संतों के सामाजिक विचारों को सगुण से ज्यादा प्रगतिशील बताया। रामविलास शर्मा निर्गुण और सगुण के बीच कोई द्वन्द्व नहीं मानते। मैनेजर पाण्डेय निर्गुण और सगुण की 'दार्शनिक दृष्टियों' के बीच द्वन्द्व मानते हैं। वे लिखते हैं कि - *"निर्गुण और सगुण की दार्शनिक दृष्टियों के बीच कहीं-कहीं द्वन्द्व हैं लेकिन वह हर जगह लोक से शास्त्र का द्वन्द नहीं है। सूरदास के भ्रमरगीत में योग के साथ-साथ निर्गुण का जो खण्डन है उसका आधार कोई शास्त्र नहीं, विशुद्ध लोक अनुभव है। वास्तव में लोक मानस निर्गुण और सगुण के बीच विरोध की तुलना में एकता और अविच्छिन्नता को अधिक महत्त्व देता है। जनमानस में निर्गुण-सगुण के बीच अलगाव से अधिक प्रबल एकता।"*[18]

वस्तुतः निर्गुण-सगुण के भेद का अध्ययन करने पर यह बात तो स्पष्ट है कि उस विभाजन के वैचारिक आधार कहीं-कहीं स्पष्ट है, कहीं-कहीं अन्तर्विरोध है तो कहीं-कहीं सामंजस्य भी है। ऐसे में उस परम्पराओं के अन्तर्विरोध और आपसी प्रतिद्वंद्विता और पंथ निर्माण की प्रक्रिया को समझे बिना एक बेहतर इतिहास लेखन नहीं हो सकता। यही इतिहास लेखन की चुनौती भी है और समस्या भी।

3.4 ज्ञानाश्रयी भक्ति शाखा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल में भक्ति की दो धाराओं को चिह्नित किया और उन्हें *निर्गुण तथा सगुण*[19] नाम दिया। जैसा कि इसके पूर्व के अध्याय में यह बताया जा चुका है कि निर्गुण और सगुण के विभाजन के जो आधार हैं वे कहीं-कहीं स्पष्ट हैं तो कहीं अन्तर्विरोधों से भरे हुए हैं। इतिहास में यह विभाजन इस मान्यता से प्रेरित है कि इस काव्यधारा के कवि अपनी साधना पद्धति में ज्ञान और प्रेम को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल निर्गुण काव्य धारा की जिस शाखा को *ज्ञानाश्रयी*[20] कहकर पुकारते हैं, हजारीप्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी एवं रामकुमार वर्मा ने इस भावधारा को *संतकाव्य*[21] परम्परा कहा है। 14वीं शताब्दी ई. में महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय के भक्तों के लिए संत शब्द प्रयोग किया जाता था। इस सम्प्रदाय की उपासना निर्गुणोपासना से मिलती-जुलती थी। कबीर दास को निर्गुण धारा का प्रवर्तक माना जाता है। वारकरी मत के संत नामदेव का स्पष्ट प्रभाव कबीर पर देखा जा सकता है, किन्तु नामदेव सगुण-साकार विट्ठलनाथ (विष्णु) के उपासक थे। इसलिए उनका मत विशुद्ध निर्गुणमत नहीं था। कबीर जिस निर्गुण मत के प्रवर्त्तक बने। उसका दार्शनिक स्वरूप तो उपनिषदों में मिलता है - उपनिषद् का ब्रह्म निर्गुण निराकार है, किन्तु उसका सामाजिक पक्ष सिद्धों और नाथों से जुड़ता है। सिद्धों के दोहाकोश और चर्यागीतों में जिस प्रकार जाति-पाँति का आक्रोशपूर्ण विरोध, वाह्याडंबर के प्रति कड़ी फटकारें और आत्मसाक्षात्कार की बातें मिलती हैं, वैसे ही कबीर के यहाँ भी परम्परागत दार्शनिक प्रपंचों का विरोध, भेदभाव,

सामंतवादी व्यवस्था की निंदा और सहज निश्छल साधना का उपक्रम मिलता है। ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के संतों/भक्तों ने शास्त्र के ज्ञान की अपेक्षा अनुभव से प्राप्त ज्ञान को श्रेष्ठ माना है इसलिए उन्हें ज्ञानाश्रयी अथवा ज्ञानमार्गी भी कहा जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निर्गुण मत को ज्ञानाश्रयी शाखा के रूप में चिह्नित करते हैं, कारण, सूफी काव्य में निर्गुण मत जिस तरह प्रेममूलक स्वरूप में अभिव्यक्त हुआ है उसकी अपेक्षाकृत इस संत-मत में बौद्धिकता या चिंतन की प्रधानता है फिर यह अकारण नहीं है कि निर्गुण भक्ति आंदोलन के पीछे की सदियों से चली आ रही अनेक प्रगतिशील चिंता धाराओं को यह सांस्कृतिक स्तर पर भारतीय जमीन के अनुकूल एक नितांत प्रगतिशील आंदोलन के रूप में निष्पन्न करता है।

आचार्य शुक्ल इस धारा के सबसे समर्थ कवि कबीर की काव्यात्मक क्षमता पर संदेह व्यक्त करते है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कबीर को रामानंद का शिष्य सिद्ध करते हैं और उनके ज्ञानमार्ग की बातों को वे हिन्दू शास्त्रों की बातें मानते हैं-

"आरंभ से ही कबीर हिंदू भाव की उपासना की ओर आकर्षित हो रहे थे। अतः उन दिनों जबकि रामानंद जी की बड़ी धूम थी अवश्य वे उनके सत्संग में भी सम्मिलित होते रहे होंगे।

× × × × ×

कबीर में ज्ञानमार्ग की जहाँ तक बाते हैं वे सब हिंदू शास्त्रों की है जिनका संचय उन्होंने रामानंद जी के उपदेशों से किया। माया, जीव, बह्म, तत्त्वमसि, आठ मैथुन (अष्टमैथुन), त्रिकुटी, छह रिपु इत्यादि शब्दों का परिचय उन्हें अध्ययन द्वारा नहीं, सत्संग द्वारा ही हुआ, क्योंकि वे जैसा कि प्रसिद्ध है, कुछ पढ़े-लिखे न थे।"[12]

पढ़े-लिखे न होने के बावजूद एक उल्लेखनीय बात यह है कि इस धारा में संतों के यहाँ एक अनावृत भावावेग का दर्शन होता है। यही कारण है कि सीधे सादे दोहों में संतों की अभिव्यक्तियाँ अपने समय के समाज से सीधा संवाद स्थापित करती है। इनकी कविताओं में कलात्मकता नहीं है किन्तु कविता रचना का सबसे महत एवं प्रामाणिक उद्देश्य निहित है। कबीर की काव्यात्मक क्षमता निर्गुण रचना की शीर्ष छवि का निर्माण करती है। एक तरफ कोमलता और मधुरता तथा दूसरी तरफ व्यंग्यमूलक आक्रामक उक्तियाँ, कविता में जिन विरोधी भावों को सुसज्जित करती हैं वे पाठक के लिए नितांत स्पृहणीय होते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ज्ञानश्रयी संतों का मूल्यांकन करते हुए शब्दों के चयन में थोड़ी सावधानी बरतते हैं और लिखते हैं कि *"कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह संपूर्ण भारतीय है और बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उनका सीधा संबंध है।"*[23] आचार्य द्विवेदी, आचार्य शुक्ल के 'हिन्दू' शब्द की जगह 'भारतीय' शब्द का प्रयोग करते हैं, लेकिन इन दोनों विद्वानों के अनुसार ज्ञानमार्गी साधना का प्रेरणा स्रोत भारतीय वेदांत दर्शन और सिद्धों-नाथों की विचारधारा है।

ज्ञानमार्गी संत उक्त विचारों से हैं लेकिन उनसे अलग उनकी कुछ प्रवृत्तिगत विशेषताएँ हैं जिन्हें इतिहास लेखन में कम रेखांकित किया गया है - मसलन ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि सिद्धों और नाथों की परम्परा से संबद्ध होते हुए भी ये लोकपद्धति के विरोधी नहीं थे। अस्वाभाविक चमत्कार एवं तुच्छ साधना से वे उपर उठे हुए थे। हालांकि आचार्य रामचंद्र शुक्ल कबीर के बारे में लिखते हैं कि-

"यद्यपि वे पढ़े-लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कार पूर्ण बातें निकलती थी। उनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था।"[24] लेकिन इस तरह की कविता ज्ञानमार्गी संतों का मूल स्वर नहीं है न ही कबीर का। इन्होंने अध्यात्म का ऐसा मार्ग खोजा जो समाज की चाहरदीवारी की मर्यादा के भीतर रहकर अग्रसर होता है। इन्होंने गृहस्थ धर्म का विरोध नहीं किया। भोगवाद का समर्थन नहीं किया।

ज्ञानमार्गी संतों ने शास्त्रीय ज्ञान का खंडन किया और 'लोक' को प्रतिष्ठापित करने की कोशिश की। इस प्रक्रिया में वे वेदों को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानने की धारणा का भी खंडन करते हैं। इसीलिए आचार्य शुक्ल को ये संत खटकते हैं और लिखते हैं कि *"संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता है। पर अशिक्षित निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है।"*[25]

ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि जातिगत श्रेष्ठता का खंडन भी करते हैं। जातिगत दंश का अनुभव करते हुए रैदास लिखते हैं -

'रैदास ब्राह्मण मति पूजिए जो होवे गुनहीन।
पुजिहीं चरन चांडाल के, जउ होवै गुण परवीन।।'

ज्ञानमार्गी कवियों का ज्ञान अनुभवगम्य आधारित है इसलिए वे वर्णव्यवस्था का खंडन करते हैं और जाति की जगह 'कर्म' आधारित समाज के निर्माण की बात करते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की स्थापना अन्तर्विरोधों से भरी

है। वे लिखते हैं कि – *"कबीर तथा अन्य निर्गुणपंथी संतों के द्वारा अंतस्साधना में रागात्मिका 'भक्ति' और 'ज्ञान' का योग तो हुआ पर 'कर्म' की दशा वही रही जो नाथपंथियों के यहाँ थी। इन संतों के ईश्वर ज्ञानस्वरूप और प्रेमस्वरूप ही रहे धर्मस्वरूप न हो पाए।××× तुलसी की भक्ति पद्धति में कर्म (धर्म) और ज्ञान का पूरा सामंजस्य और समन्वय रहा।"*[16]

दरअसल आचार्य रामचंद्र शुक्ल कर्म और धर्म में घालमेल पैदा करते हैं और इस प्रकार के ज्ञानमार्गियों की कर्म आधारित समाज व्यवस्था का खंडन करते हैं। कबीर के काव्य में परम्परागत कर्मकाण्डों का खंडन और व्यवस्था का खंडन जिस आक्रामण तेवर में मिलता है वैसा अन्य संतों के यहाँ प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होता लेकिन रचना और विषयवस्तु के नाम पर सभी कवियों में प्रायः एक सी प्रवृत्तियाँ दिखती है, इन सभी में सामाजिक व्यवस्था परंपरा के विरुद्ध असंतोष है किन्तु यह असंतोष एक संत का असंतोष है। जाहिर है असंतोष का इजहार या तो वे मानव जाति की मूर्खता पर व्यंगात्मक होते हुये करते हैं या और भी आक्रामक होकर आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं या उपदेशात्मक अख्तियार करते हैं।

कबीर से जिस संतमत का आरम्भ होता है वह सिद्धों के पंचमकार (मांस, मुद्रा, मत्स्य, मैथुन) को गर्हित निन्दित मानता हुआ उससे आगे बढ़ जाता है और नाथों की समाजिक दृष्टि समता एवं योगसाधना का प्रभाव ग्रहण करता है। लेकिन नाथों की काया-क्लेश से कड़ा परहेज करता है। अस्तु संतमत पर आंशिक रूप से (1) उपनिषदों (2) सिद्धों (3) नाथों का प्रभाव पड़ता है। इनकी भक्ति के दार्शनिक एवं सामाजिक पक्ष में निम्नलिखित बातें दिखाई पड़ती है –

- ब्रह्म निर्गुण – निराकार, सगुण साकार आदि सभी उपाधियों से विलक्षण है।
- निर्गुण निराकार ब्रह्म की भक्ति वैसे ही सम्भव है, जैसे सगुण–साकार की, किन्तु भक्ति कर्मकाण्ड विहीन होनी चाहिए।
- भक्ति में वैराग्य, समय, सदाचार, अहिंसा, नामजप एवं सद्कर्मनिष्ठ जीवन वांछित होता है।
- वर्ण व्यवस्था, बाह्य कर्मकाण्ड– तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज सभी छलावा है।
- सहज, कर्मनिष्ठ जीवन जीते हुए परमात्मा से प्रेम करना चाहिए यही सही योग है।

संतमत में सर्वाधिक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व कबीर का है, उनकी भक्ति में एक तरफ से सघन अनुभूति, भावप्रवणता, तन्मयता दिखाई पड़ती है, तो दूसरी तरफ उनकी वाणी में सम्प्रदाय, जाति–व्यवस्था, कर्मकाण्ड के प्रति फटकार सुनाई पड़ती है। आचार्य द्विवेदी उनकी परम्परा भजक मुद्रा में अस्वीकार का साहस और सघन लोक–चिन्ता देखते हैं – 'तू बाह्मण मैं काशी का जुलाहा।' जैसी चुनौती और जैसा आह्वान उनकी वाणी में हैं, किंचित् वहीं संतमत का आधार बनता है– 'जो घर जारे आपना, सोई आवे साथ।' उनकी एकमात्र रचना बीजक पायी जाती है, जिसमें साखी, सबदी, रमैनी आदि काव्यरूपों में उनकी वाणियाँ संगृहीत हैं। राजस्थान में कबीर से प्रभावित अनेक संत सम्प्रदायों का उद्भव हुआ। निरंजनी, साधू, सतनामी, लालदासी, दादू पंथ आदि। दादू में विनम्रता और सहजता अधिक हैं –

'वाद–विवाद काह सौं नहीं, माहि जगत थै न्यारा।'

रैदास कबीर-परम्परा के संत थे, कबीर जैसा आत्मविश्वास उनमें नहीं था, किन्तु जाति-व्यवस्था के जिन अभिशापों को उन्होंने भोगा था, वह उनकी वाणी में सहज ही फूट पड़ती है - 'जाके कुटुम्ब सब ढोर ढोवंत/फिरहिं अजहूँ बनारसी आसपासा।'

नानक की बानियों का कथ्य प्रायः कबीर का ही है, किन्तु नानक पहले संत है, जिन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध आवाज उठाई - 'खुरसान कीआ हिन्दुस्तान डराइआ/आपै दोस न देई करता जपु करि मुगल चढ़ाइया।' ज्ञानाश्रयी परंपरा में नानक शायद ऐसे कवि अकेले हैं, जो स्त्रियों की निंदा नहीं करते हैं, वह गृहस्थ धर्म में नारियों की प्रतिष्ठा करते हैं।

संतकवियों में सुन्दरदास (1596-1689) ही पारंपरिक ढंग से शिक्षित थे। उन्होंने मुख्यतया सवैया और कवित्व लिखे, किन्तु इन पदों में सहज, अनुभवशीलता नहीं है। इसके अलावा रज्जब, धरनीदास, दरियासाहब, मलूकदास, जगजीवनदास (सतनामी सम्प्रदाय) पलटूदास, दयाबाई, सहजोबाई संत भी साधनागत और सामाजिक मान्यताओं पर एक राय जाहिर करते हुए सामंती व्यवस्था के खिलाफ सांस्कृतिक आन्दोलन खड़ा करते हैं, जिसका लोक जागरणकारी प्रभाव प्रायः आधुनिक युग के स्वतंत्रता आंदोलन जैसा ही था।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने निर्गुण धारा के कवियों में उच्च कोटि की सर्जन क्षमता नहीं पाई किन्तु कालान्तर के समीक्षकों ने इन कवियों के कृतित्व में गहरे उतर कर उनकी सम्पूर्ण रचनाशीलता से सबक लेते हुए उसके व्यापक जनवादी सरोकारों को स्पष्ट किया है। इसलिए जिस साहित्य में आचार्य शुक्ल को रसधारा

बहती हुई नहीं दिखाई पड़ती है। उसमें आचार्य द्विवेदी, रामविलास शर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, सरीखे आचार्यों को एक सामान्य धरातल पर विद्यमान उच्चकोटि की सर्जनात्मक क्षमता का प्रमाण मिलता है। कबीर का यह कथन –

'यहु जिन जानहु गीत है, यह निज ब्रह्म विचार रे।'

प्राय: सभी निर्गुणियों के साथ लागू होता है। रचना करना इनका उद्देश्य नहीं था किन्तु नैसर्गिक रचना क्षमता के बूते ये सभी सन्त कवि कहलाए। जैसे– उस समय की परिस्थितियाँ, सांस्कृतिक स्थितियाँ अत्यन्त विक्षोभपूर्ण एवं विश्रृंखलित थी, वैसे ही इन कवियों को भाव भाषा की अनगढ़ जमीन मिलती है, किंचित यह स्वाभाविक भी है। निर्गुण साहित्य में जो उच्च कोटि की कलात्मकता नहीं मिलती है, केवल उसी नाते उसका सर्जनात्मक मूल्य कम नहीं आँका जा सकता है। अपने अनगढ़ भाव एवं भाषा के साथ ही यह काव्य धारा लोक मानस से गहन संबंध स्थापित कर सकी है और अपनी क्रान्तिधर्मी लोक चिन्ता से सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह कर सकी है, यह कम महत्त्व की बात नहीं है –

'सन्तों राह दुनों हम दीठा।
× × × ×
चलती चाकी देखि के दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।'

निर्गुण काव्यधारा में चूंकि मनुष्य को ही केन्द्र में रखकर मानवीय सत्य, न्याय, सौहार्द्र और सह अस्तित्व के आधार पर सामाजिक व्यवस्थाएँ निर्दिष्ट की गयी हैं, इसलिए समाज के संदर्भ में निर्गुण साहित्य की परिकल्पना सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है।

3.5 प्रेमाश्रयी भक्ति शाखा

हिंदी साहित्य जगत में सूफी काव्य परंपरा का उदय भक्ति की निर्गुण काव्य धारा के प्रेममार्गी धारा के अंतर्गत हुआ। मान्यता है कि *"हिंदी साहित्य के मध्यकाल के आरम्भ से पूर्व ही एक ऐसी काव्य-परंपरा का प्रवर्तन हो चुका था, जिसे विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नामों से पुकारा है, यथा : 'प्रेममार्गी (सूफी) शाखा', 'प्रेमकाव्य', 'प्रेमकथानक काव्य', 'सूफीकाव्य' आदि।"*[27] सूफी काव्य का संसार 14वीं सदी से लेकर 18वीं सदी तक फैला हुआ है। जहाँ तक इसके सूत्रपात का प्रश्न है तो मुल्ला दाऊद के 'चंदायन' (1379 ई.) से इसकी शुरुआत मानी जा सकती है। सूफी काव्य इस मामले में मानीखेज है क्योंकि यह भी उसी समाज की उपज है, जहाँ एक तरफ कबीर पंडित, मौलवियों के कठमुल्लेपन को ललकार रहे थे, तत्कालीन शासक वर्ग भी मुसलमान ही था, जिसके समय में अन्य धर्मों के मानने वालों की स्थिति बहुत आदर्श नहीं थी, जातीय-धार्मिक विभेद बढ़ता ही जा रहा था। ऐसे में ये सूफी इस्लाम के उदार पक्ष को रेखांकित करते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं - *"अमीर खुसरों ने मुसलमानी राजत्व काल के आरम्भ में ही हिन्दू जनता के प्रेम और विनोद में योग देकर भावों के परस्पर आदान-प्रदान का सूत्रपात किया था, पर अलाउद्दीन के कट्टरपन और अत्याचार के कारण दोनों जातियों एक-दूसरे से खिंची सी रहीं, उनका हृदय मिल न सका। कबीर की अटपटी बानी से भी दोनों के दिल साफ न हुए, मनुष्य के बीच रागात्मक संबंध है, वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ।"*[28] 'त्रिवेणी' में ही जायसी पर लिखते हुए आचार्य शुक्ल शुरू में ही सूफी काव्य की ऐतिहासिक

भूमिका रचते हैं, *"सौ वर्ष पहले कबीरदास हिन्दू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे, पंडित और मुल्लाओं की तो नहीं कह सकते पर साधारण जनता 'राम और रहीम' की एकता मान चुकी थी.... मुसलमान हिन्दुओं की राम कहानी सुनने को तैयार हो गए थे और हिंदू मुसलमानों का दास्तान हमजा।"*[29] आगे आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि *"ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिंदुओं के ही घरों की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने यह दिखला दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्यमात्र के हृदयों से होता हुआ गया है, जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप-रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है।"*[30] यह अंतिम पंक्ति पूरे सूफी काव्य की प्राणधारा है, सूफी कवियों ने प्रेम के शुद्ध हृदयगामी पक्ष को सामने उकेरा, सच कहा जाए तो सूफी काव्य की विशिष्टता इस बात में है कि इसने दो विपरीत संस्कृतियों, हिंदू और मुसलमान के बीच समन्वय की, प्रेम की एक मजबूत डोर बाँधी, जिसकी बुनियाद पर आज का भारतीय गणतंत्र का धर्मनिरपेक्ष चरित्र मजबूती से खड़ा है।

सूफी साधक अपने खुदा की प्राप्ति प्रेम के माध्यम से ही करता है और यह पूरी प्रक्रिया 'इश्कमजाज़ी' (लौकिक प्रेम) से शुरू होकर 'इश्कहकीकी' (अलौकिक प्रेम) तक पहुँचती है। यहाँ भी सूफी 'हरि मेरा पिउ मैं हरि की बहुरिया' की तर्ज़ पर अपने को यानि बन्दे को स्त्री और खुदा को पुरुष के रूप में ही समझता है। यहाँ पर बात भी ध्यातव्य है कि *"जिस तरह भक्तों में अंडाल और मीरांबाई हुई, उसी तरह सूफियों में बसरा की राबिया नामक एक स्त्री की भी गणना की जाती है।"*[31] सूफी दर्शन का मूल आधार इस्लाम से जुड़ा हुआ है, पर

यह भारतीय दर्शन व उपनिषदों से भी प्रभावित है। अनलहक की स्थिति इसका प्रमाण है। पर कई दर्शनों से प्रभावित होकर यह अंततः अधिक मानवीय होकर सामने आता है।

इसमें कोई शक नहीं कि *"हिंदी का सूफी काव्य पारसी सूफी काव्य तथा इस्लाम से प्रेरणा लेकर भी भारतीय था।"*[32] जहाँ तक सूफी काव्य रूप का प्रश्न है तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं *"प्रायः सभी सूफी कवियों ने एक ही प्रकार के काव्य-रूपों का उपयोग किया है, इनकी भाषा अवधी होती है; छंद चौपाई और दोहा।"*[33] सूफी कवियों के लेखन की प्रसिद्धि का अंदाज़ा इसी प्रसंग से लगाया जा सकता है कि *"सत्रहवीं शताब्दी के जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्म-चरित अर्द्ध-कथानक में लिखा है कि मधुमालती और मृगावती नामक पुस्तकों के पढ़ने का उन्हें ऐसा चस्का लगा था कि दुकान का सब काम-काज छोड़कर घर में ही बैठे रहते थे, अब घर में बैठे रहे नाहिं हाट बाज़ार/मधुमालती मृगावती पोथी दोई उचार।"*[34]

जहाँ पहले-पहले लौकिक स्तर पर प्रेम के धरातल पर प्रेयसी में खुदाई की छवि परिकल्पित की गयी वहीं जब दार्शनिक स्तर पर इसका संक्रमण किया गया तो खुदा को माशूका की छवि दी गयी, जिसका सीधा आशय नायक को उतना भावुक नहीं दिखाया जाता रहा है जितना कि इन प्रेमाख्यानों में दिखाया गया है। चित्र दर्शन, स्वप्नदर्शन, गुण कथन से प्रेम हो जाना तथा उस प्रेम व्यापार में किसी पक्षी अथवा अन्य प्रकाशित तत्त्वों का सहायक सिद्ध होना फारसी प्रेम कथाओं की परम्परा में देखा जा सकता है।

कालान्तर के शोधों से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि सूफी काव्य धारा की विदेशी न होकर देशी है। जहाँ तक आचार्य शुक्ल के उक्त तर्को का सवाल है इस संबंध में समकालीन विश्लेषण निम्नलिखित है - यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता है कि प्रेमाख्यानों की रचना सूफी होने के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से हुई। सूफी धर्म विदेशी अवश्य है और सूफी दर्शन इनका केन्द्रीय दर्शन है पर केन्द्रीय प्रतिपाद्य नहीं। इन काव्यों में लोक और परलोक का मिला जुला सौन्दर्य व्यक्त हुआ है -

'ऊँचा प्रेम पंथ का होई। तेहि मँह ऊँच भए सब कोई (कासिम)
× × × × ×
जिमि बसंत उपवन बनफूला,
जहँ जहँ भौंर कुसुम रस भूला।' (उस्मान)

सूफी काव्यधारा में कथ्य और शिल्प दोनों स्तर पर समृद्ध सर्जनात्मकता मिलती है। सूफियों के यहाँ निर्गुण कवियों की अपेक्षा कथ्य की सुसंगठित भाव भूमि प्राप्त होती है, किन्तु दूसरे स्तर पर निर्गुण साहित्य की अपेक्षाकृत उनका साहित्य कम पैना और कम प्रभावी है। यद्यपि आचार्य शुक्ल के अभिमत से सूफी काव्य का साहित्यिक पक्ष अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि में निर्गुण की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है। किन्तु इधर के प्रगतिशील समीक्षकों के अध्ययन से जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, वे इसी बात के प्रमाण हैं कि सूफियों का सांस्कृतिक मेल-जोल तात्कालिक दृष्टि से भले ही कुछ अधिक महत्त्व रखता हो लेकिन उसका दूरगामी प्रभाव वांछित दिशा नहीं निर्दिष्ट कर पाता है। उनकी समीक्षा दृष्टि में तुलसी के बाद जायसी का ही स्थान आता है। विजयदेव नारायण 'साही' ने भी

जायसी पर स्वतंत्र पुस्तक लिखकर इस तथ्य की स्थापना की है – *"जायसी सूफी हों न हों किन्तु वे कवि है और प्रेम के कवि हैं। सूफियों की यह सेक्युलर मानसिकता उनकी साहित्यिक उपलब्धि से सीधे जुड़ती है, क्योंकि बिना उच्चकोटि की रचनाशीलता के ऐसी सेक्युलर दृष्टि असंभव है। निर्गुणियों की तरह सूफियों की सर्जनात्मक चिन्ता के केन्द्र में मनुष्य है। सूफियों ने प्रायः प्रबन्धात्मक रचनाएँ की हैं, इसलिए उनके कृतित्व में लोक के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष के विशद वर्णन का अवकाश विद्यमान है।"*[35] जायसी के कृतित्व में लोक संस्कृति खासकर अवधी संस्कृति लोक जीवन जिस समारोह की तरफ ध्यान आकर्षित करता है, वह सूफी काव्यधारा के सर्जनात्मक मूल्यांकन में बहुत दूर तक मदद करता है। यहाँ सूफी काव्य का साहित्यिक प्रदेय निर्गुण काव्य की अपेक्षाकृत बढ़ जाता है। सूफियों ने हिन्दू लोक जीवन को केवल सांस्कृतिक स्तर पर ही नहीं बल्कि उससे और आगे सामाजिक तथा रचनात्मक स्तर पर जिया है और व्यक्त किया है। सूफियों से पूर्व अवध संस्कृति का इतना व्यापक और गहन चित्रण नहीं प्राप्त होता है शिल्प के स्तर पर भी सूफी धारा में उच्चकोटि की रचनात्मकता मिलती है।

सिद्धों एवं नाथों के यहाँ जो काव्य रूप अपनाए गए हैं उन्हें सूफी नए कार्यदीप्ति देते हैं। आचार्य शुक्ल का कथन है कि *"जायसी के यहाँ ठेठ अवधी का प्रयोग मिलता है और यह ठेठ अवधी अवध क्षेत्र की संस्कृति से ही परिष्कृत हुई है। यदि निर्गुण काव्यधारा में उच्चतम सर्जनात्मकता का चुनाव करना हो तो कबीर को चुनेंगे, कृष्ण भक्ति धारा में सूर को चुनेंगे, राम भक्ति धारा में तुलसी*

को चुनेंगे, उसी प्रकार सूफी काव्य की सर्जनात्मकता या रसात्मकता जायसी के पद्मावत में निश्शेष हो गयी है।"[36] इरावती, कन्हावत, अखरावट आदि कृतियों में न तो पद्मावत जैसी सर्जनात्मकता का दर्शन होता है और न तो उनका साहित्यिक महत्त्व ही इस भाँति है।

सूफी काव्यधारा में सर्वश्रेष्ठ कहे जाने वाले के यहाँ भी लोकधर्म का एक अलग स्वरूप देखने को मिलता है। जैसा कि संतों के यहाँ हमें आध्यात्मिक चिंता के समानान्तर सामाजिक चिन्ता का दर्शन होता है। वैसा कुछ सामाजिक विषय सूफियों के यहाँ नहीं दिखाई पड़ता है। वह सूफी साहित्य में प्रायः अनुपस्थित है। किन्तु जिस समय हिन्दू और मुस्लिम के बीच साम्प्रदायिक विद्वेष चरम पर था उस समय इन सूफियों ने प्रेम की जो सलिला बहाई, वह विक्षुब्ध सामंती व्यवस्था को संयत करते में बहुत कुछ मदद करती है। इन कवियों की 'प्रेम की पीर' के चलते इनकी लोक चिन्ता को देखा जा सकता है, जैसा कि विजयदेव नारायण 'साही' का कहना है कि जायसी सूफी कवि हों न प्रेम के कवि अवश्य है, आचार्य शुक्ल ने जायसी के सेक्यूलर एप्रोच की सराहना की है।[37] जायसी जब यह उद्घोष करते हैं 'मानुष' प्रेम भयो बैकुंठी तो इस बात का सहज ही संज्ञान हो जाता है कि उनकी दृष्टि में सबसे बढ़ा मानुष सत्य है - 'प्रेम'। इसी तत्त्व की विस्तार प्रदान करते हुए वह पद्मावत में हिन्दू नीतियों, रीतियों, वेशभूषा, खान-पान आदि विविध लोकाचारों का सूक्ष्म एवं सटीक वर्णन प्रस्तुत करते हैं, किन्तु जैसा कि शिव कुमार मिश्र का कहना है कि *"जायसी के काव्य में सभी चीजों को लोक धर्म के अंतर्गत न परिगणित करके लोकतत्त्व के अन्तर्गत रखा जाना चाहिए। लोकधर्मी की भूमि पर इन कवियों का साम्य प्रेम से मिलता है। जायसी के अलावा अन्य कवियों*

ने भी लोक जीवन को समझते हुए प्रेमतत्त्व को सर्वोपरि माना है। यद्यपि इनके यहाँ संत साहित्य के लोक धर्म जैसी विरोधात्मक स्थिति नहीं किन्तु जिस प्रेम की व्यंजना इन्होंने की, वह समय के उस नाजुक दौर में सूफी साहित्य का सामाजिक, सांस्कृतिक और योगदान ही माना जाएगा।"[38]

हिन्दी साहित्य के इतिहास के विवादास्पद प्रसंगों में से एक यह भी है कि 'सूफी' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? वर्तमान समय में सूफी उसे कहा जाता है जो 'तसव्वुफ' का अनुयायी है अर्थात् 'इश्क मजाज़ी' और 'इश्क हकीकी' के सिद्धांत को मानते हुए सभी धर्मों से प्रेम करता है। विभिन्न विद्वानों ने सूफी शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या भिन्न-भिन्न दृष्टियों से की है। सबसे प्रसिद्ध मत के अनुसार सूफी शब्द 'सफ' से विकसित हुआ है जिसका तात्पर्य है ऊन या ऊनी कपड़ा। सूफी साधक आरंभिक समय में भेड़ या बकरी के ऊन से बने कपड़े धारण किया करते थे। संभवत: इसीलिए उन्हें सूफी कह दिया गया है। दूसरे मत के अनुसार सूफी शब्द की उत्पत्ति 'सफा' से हुई है जिसका अर्थ है 'पवित्रता' या शुद्धि की अवस्था। इस व्याख्या के अनुसार आचरण की पवित्रता और शुद्धता के ही कारण इन लोगों को सूफी कहा गया। कुछ विद्वानों ने सफा शब्द की एक और व्याख्या की। उनके अनुसार मो. पैगम्बर द्वारा मदीना की मस्जिद के बाहर 'सफा' अर्थात् मक्का की एक पहाड़ी पर जिन लोगों ने शरण ली वही आगे चलकर सूफी कहलाए।

वस्तुत: इस विवाद का कोई भी सर्वमान्य निर्णय करना कठिन है। ज्यादा संभावना इस बात की है कि सूफी शब्द की उत्पत्ति 'सफ' अर्थात् 'ऊन' से ही हुई होगी क्योंकि प्रथम द्रष्टया बाह्य विशेषताएँ ही समाज को नजर आती हैं। आगे चलकर बाकी व्याख्याएँ क्रमश: विकसित होती गई होगी। कुछ भी हो, आजकल इसका अर्थ 'तसव्वुफ' को मानने वाले साधक से ही लिया जाता है।

भक्ति काल की निर्गुण प्रेमाश्रयी धारा का उपयुक्त नाम क्या हो – इस प्रश्न पर विवाद है। आचार्य शुक्ल ने इस धारा को *'प्रेममार्गी शाखा (सूफियों की)'*[39] कहा और माना कि इसके अंतर्गत सूफी दर्शन को स्वीकार करने वाले मुस्लिम कवि की प्रधानतः शामिल है। रामकुमार वर्मा ने सूफी तत्त्व की प्रधानता को दृष्टिगत करते हुए इसका नामकरण भी *'प्रेम काव्य'*[40] कर दिया। सामान्यतः हिन्दी साहित्येतिहास में यही दो नाम प्रचलित है किन्तु हाल के इतिहासकारों ने इन नामों पर प्रश्नचिन्ह लगाए हैं।

मूल विवाद इस बिन्दु पर है कि क्या इस काव्यधारा में शामिल कवि सूफी दर्शन को मानने वाले मुसलमान ही है या हिन्दू कवि भी उसमें शामिल है? आचार्य शुक्ल ने अत्यंत सीमित रूप से हिन्दू कवियों की चर्चा की किन्तु उन्हें विशेष महत्त्व नहीं दिया। इसके विपरीत, आचार्य द्विवेदी ने बताया कि इस काव्यधारा का प्रवर्तन ही ईश्वरदास नाम के हिन्दू कवि ने 'सत्यवती कथा' नामक रचना के माध्यम से किया था। आगे चलकर गणपति चन्द्र गुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में सप्रमाण सिद्ध किया कि इस काव्यधारा के कुल 53 कवियों में से 36 हिन्दू थे और आरंभिक 11 में से भी 8 हिन्दू थे। अतः इसे सूफी काव्य कहने के स्थान पर *'रोमांसिक कथा-काव्य (प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा)'*[41] कहना ज्यादा उचित है।

सूफी काव्य के नामकरण से संबंधित दूसरा विवाद यह है कि क्या इस साहित्य की अन्तर्वस्तु सूफी दर्शन या 'तसव्वुफ' पर केन्द्रित है या नहीं? आचार्य शुक्ल तथा कई अन्य साहित्येतिहासकारों ने माना है कि सूफी काव्य प्रतीकात्मक रूप में 'तसव्वुफ' की ही अभिव्यक्ति करते हैं। इस अर्थ में उन्हें समासोक्ति या अन्योक्ति के ढाँचे पर ही समझना चाहिए। इसके विपरीत विजयदेव नारायण

'साही' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'जायसी' में विस्तृत विश्लेषण के आधार पर दावा किया कि, *"'पद्मावत' सहित इस काव्यधारा को कई रचनाओं में 'तसव्वुफ' सिर्फ एक मुहावरा है जो बहुत से अन्य मुहावरों की तरह रचना में शामिल है। इसका महत्त्व वस्तुतः इतना कम है कि इसे रचना का मूल अर्थ तो क्या प्रासंगिक अर्थों में से एक भी नहीं माना जा सकता।"*[12]

स्पष्ट है कि समकालीन समीक्षकों ने रचनाओं की मात्रा तथा उनकी अन्तर्वस्तु दोनों के आधार पर इस धारा को सूफी काव्यधारा कहने का विरोध किया है। इस दृष्टि से 'प्रेमाख्यानक काव्य' ज्यादा बेहतर नाम है क्योंकि इस काव्यधारा की मूल विशेषता प्रेमयुक्त लोक-आख्यानों की सृजनात्मक प्रस्तुति ही है। सूफी काव्यधारा का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से माना जाता है। भारत की सामाजिक संस्कृति या गंगा-जमुनी तहजीब के निर्माण में इस काव्यधारा का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं - *"सौ वर्ष पूर्व कबीरदास हिन्दू व मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पंडितों व मुल्लाओं की तो नहीं कह सकते पर साधारण बनता 'राम और रहीम' की एकता मान चुकी थी.... ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिन्दुओं के ही घरों की थीं। इनकी मधुरता व कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने दिखला दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व को अनुभव करने लगता है।"*[13] सूफियों ने न सिर्फ

हिन्दू घरों की कहानियों को प्रचलित किया बल्कि हिन्दू धर्म के मिथकों को भी सम्मान दिया। ध्यातव्य है कि इस्लाम धर्म बुतपरस्ती अर्थात् मूर्तिपूजा को कुफ्र मानता है किन्तु इसके बावजूद सूफियों ने हिन्दू देवी-देवताओं को अपनी कविताओं में सम्मानपूर्वक शामिल किया, जैसे-पद्मावत में शिव, पार्वती, हनुमान की उपस्थिति या कन्हावत में कृष्ण की कथा।

कई अन्य स्तरों पर भी सूफी काव्य में सांस्कृतिक समन्वय की चेष्टा दिखती है। सूफियों ने लिपि तो अरबी की ली किन्तु भाषा ठेठ अवधी रखी। उन्होंने छंद भी अरबी-फारसी काव्य परंपरा से नहीं लिए, बल्कि दोहा और चौपाई की उस कड़वकबद्ध शैली को चुना जिसकी शुरुआत आदिकाल में 'स्वयंभू' जैसे कवियों ने की थी जो आगे चलकर 'रामचरितमानस' में भी प्रयुक्त हुई। उन्होंने कथानक रूढ़ियाँ भी भारतीय साहित्य परंपरा से ही लीं, जैसे बारहमासा, षट्ऋतु वर्णन, ईश्वरीय हस्तक्षेप, आकाशवाणी, शुक-शुकी संवाद इत्यादि। इसके अतिरिक्त, सूफी काव्यों में लोकतत्त्व की जबर्दस्त उपस्थिति है जिसके कारण हिन्दुओं के दीवाली व होली जैसे त्यौहार व रीति-रिवाज इन कविताओं में लगातार नज़र आते हैं।

सांस्कृतिक समन्वय की चेतना यूँ तो भक्तिकाल की अन्य काव्यधाराओं में भी है किन्तु इस दृष्टि से सूफियों का महत्त्व सबसे अधिक है। कबीर ने विषमताओं पर चोट तो की थी किन्तु समन्वय हेतु कोई भावनात्मक चेष्टा उनमें नहीं दिखाई पड़ती। तुलसी समन्वय के सबसे बड़े कवि है किन्तु उनकी समन्वय चेष्टा हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय में कम, हिन्दू समाज के आंतरिक अन्तर्विरोधों के शमन में अधिक व्यक्त हुई। अतः यह कहने में कोई अतिशयोक्ति

न होगी कि भारत की सामाजिक संस्कृति के निर्माण में सूफी काव्यधारा का अप्रतिम योगदान है क्योंकि इसी परम्परा ने हिन्दुओं व मुसलमानों को साहचर्य व प्रेम से रहने की मानसिकता प्रदान की।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूफी काव्यधारा के प्रबंध काव्यों को 'मसनवी शैली' का बताया है। इनके अनुसार, इन रचनाओं के लेखक प्रमुखतः मुसलमान थे और उन पर फारसी, अरबी परंपरा से जुड़े होने के कारण वहाँ की मसनवी काव्य शैली का प्रभाव था। आचार्य शुक्ल के अनुसार इन रचनाओं के आरम्भ में ईश्वर की स्तुति, समकालीन शासक का उल्लेख, पूरी रचना का एक ही छन्द में होना, रचना का सर्गों में विभक्त न होना तथा प्रेम की फारसी पद्धति का विद्यमान होना जैसे लक्षण सिद्ध करते हैं कि ये काव्य मसनवी परंपरा के अधिक नज़दीक हैं, भारतीय परंपरा के कम।[44]

वस्तुतः आचार्य शुक्ल का यह मत आज निरापद नहीं है। आगे चलकर गणपतिचन्द्र गुप्त आदि विद्वानों ने उनकी इस धारणा का खंडन इस प्रकार किया –

- ❖ सूफी काव्यों में मसनवी के कोई लक्षण नहीं मिलते। उदाहरण के लिए सूफी काव्य एक ही छन्द में नहीं लिखे गए बल्कि पाँच या सात चौपाइयों पर एक दोहे का धत्ता देकर लिखे गए हैं। यह कड़वकबद्ध छन्द परंपरा फारसी काव्यों में नहीं बल्कि अपभ्रंश काव्य के दौरान स्वयंभू के काव्य से विकसित हुई।

- ❖ मसनवी सर्गों में विभक्त नहीं होती। सूफी काव्य सर्गों में चाहे विभक्त न हो किन्तु बहुत सारे शीर्षकों में जरूर विभक्त है।

- ❖ जहाँ तक ईश्वर का उल्लेख या अपने वंश इत्यादि का परिचय देने की बात है, यह तो भारतीय कथा काव्यों का लक्षण भी माना गया है। आचार्य रुद्रट ने 19वीं शताब्दी में कथाकाव्यों के लिए यह नियम ही बना दिया था कि उनमें देवता, गुरु इत्यादि की वंदना हो तथा कवि का अपना परिचय भी हो।
- ❖ आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मानना था कि नायक के पक्ष में विरह का अधिक होना तथा लोक निरपेक्ष प्रेम की विद्यमानता, जो सूफी काव्यों में उपस्थित प्रेम पद्धति के लक्षण है, वे फारसी मसनवी शैली से प्रभावित है। इसके विपरीत गणपति चन्द्र गुप्त ने सिद्ध किया कि भारत में भी नायकों के विरह-दग्ध होने की परम्परा है, जैसे ऋग्वेद के उर्वशी-पुरुरवा प्रसंग में और मेघदूत के यक्ष-यक्षिणी प्रसंग में नायक का विरह ही अधिक प्रबल है। जहाँ तक लोक-निरपेक्ष प्रेम का प्रसंग है, भारत में भी 'ऊषा-अनिरुद्ध', 'नल-दमयन्ती' तथा 'भीम-हिडिम्बा' जैसे प्रसंग लोक-निरपेक्ष प्रेम के ही उदाहरण हैं।[45]

स्पष्ट है कि सूफी प्रेमाख्यान जिन विशेषताओं को लेकर चले, वे भारतीय साहित्य परम्परा में पहले से विद्यमान रही हैं। इसलिए उन्हें भारतीय परम्परा का ही एक विशिष्ट रूप मानना चाहिए, न कि मसनवी परंपरा की रचनाएँ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में सूफी काव्य के प्रेमतत्त्व का चर्चा करते हुए बताया है कि वह मूलत: फारसी पद्धति का प्रेम है जिसमें कहीं-कहीं भारतीय पद्धति का मिश्रण है। उनके अनुसार प्रेम की फारसी पद्धति के तीन मुख्य लक्षण है -

- ❖ यह प्रेम लोक निरपेक्ष तथा आत्यन्तिक होता है अर्थात् प्रिय तथा प्रेयसी को न तो समाज की चिन्ता होती है, न ही प्रेम के अतिरिक्त उनके लिए किसी अन्य पक्ष का महत्त्व होता है।

- ❖ इस प्रेम में विरह पक्ष पुरुषों में अधिक दिखाया जाता है तथा विरह के वर्णनों में अतिशयोक्ति व ऊहात्मकता जैसी प्रवृत्तियाँ दिखती है।

- ❖ इस पद्धति में प्रेम परिचय से आरम्भ नहीं होना बल्कि स्वप्नदर्शन, चित्रदर्शन या गुणश्रवण से होता है।[46]

आचार्य शुक्ल का मत है कि सूफी प्रेमाख्यानों में प्रेम की मुख्य प्रणाली यही रही है। उदाहरण के लिए पद्मावत में रत्नसेन को सिर्फ हीरामन तोते द्वारा किये गए वर्णन के आधार पर पद्मावती से प्रेम हुआ है। पुनः यह प्रेम लोक-निरपेक्ष है क्योंकि इसमें पारिवारिक मर्यादाओं या सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों का ध्यान नहीं रखा गया है। विरह भी रत्नसेन जैसे नायकों में पर्याप्त है हालांकि पद्मावती व नागमती जैसे नारी चरित्रों में भी विरह दिखाया गया है। कुछ तत्त्व भारतीय प्रेम परम्परा के भी मिलते हैं, जैसे- नायक-नायिका के मध्य हास-परिहासपूर्ण छेड़छाड़ के प्रसंग इत्यादि।

वस्तुतः वर्तमान समय में आचार्य शुक्ल का यह मत उपयुक्त नहीं माना जाता। इसका कारण यह है कि भारतीय व फारसी प्रेम पद्धति का उन्होंने जो निरूपण किया, उसका खण्डन बाद के विद्वानों जैसे गणपति चन्द्र गुप्त ने किया। उनके तर्क इस प्रकार हैं -

- ❖ भारतीय साहित्य में भी पुरुषों के विरह में जलने की परंपरा विद्यमान रही है, जैसे ऋग्वेद का 'पुरुरवा' व मेघदूत का 'यक्ष' ऐसे ही विरहदग्ध पुरुष है।

- ❖ लोक-निरपेक्ष प्रेम भी भारतीय परम्परा में विद्यमान रहा है, जैसे- महाभारत के नल-दमयन्ती प्रसंग, भीम-हिडिम्बा प्रसंग तथा पुराणों के उषा-अनिरुद्ध प्रसंग में।

- ❖ फारसी के प्रेमाख्यानों में चाहे वह लैला मजनू की कथा हो चाहे शीरी-फरहाद की प्रेम का आरम्भ परिचय से हुआ है, न कि स्वप्न या चित्र से।[47]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सूफी काव्यों में वर्णित प्रेम को अभारतीय कहना उचित नहीं है। इसमें वर्णित सभी विशेषताएँ भारतीय परम्परा में भी दिखाई पड़ती है। अतः यह भारतीय परंपरा का ही प्रेम है।

इसके अतिरिक्त सूफी काव्य परम्परा को लेकर इतिहास लेखन में कुछ विचारणीय बिन्दु है जिन पर चर्चा थोड़ी कम हुई है। सूफी कविता और दर्शन में जो तनाव है अर्थात् सूफी कविता कब कविता से दर्शन की तरफ चली जाती है और दर्शन कब कविता में परिणत हो जाता है इस पर इतिहास लेखन में बात नहीं हुई है। विजयदेव नारायण 'साही' ने 'जायसी' नामक पुस्तक में इस पर थोड़ी बात चीत की है। दूसरा एक महत्त्वपूर्ण बिन्दू जो इतिहास लेखन है उपेक्षित है वह यह कि आखिर सभी सूफी साहित्य ट्रैजेडी क्यों है? इसका कारण क्या है? इसे इतिहास लेखन में व्याख्यायित करने की कोशिश होनी चाहिए जिससे सूफी काव्य के इतिहास लेखन को एक नई दिशा मिल सकती है। जैसा कि पहले अध्याय में यह कहा जा चुका है कि साहित्य इतिहास लेखन में इस बात पर गौर करना होता है कि किसी विशेष कालखण्ड में हम साहित्य की एक नयी विधा से परिचित होते

हैं या किसी विशेष विधा की अधिकता पाई जाती है। तीसरा एक महत्त्वपूर्ण सूत्र जो इतिहास लेखन में उपेक्षित है वह यह कि इस बात पर कम ध्यान दिया गया कि सभी सूफी और प्रेमाख्यानक काव्य नायिका प्रधान रचनाएँ है और शीर्षक भी नायिका प्रधान है। क्या यह अनायास है या इसके पीछे कोई खास विचारधारा काम कर रही थी जबकि सम्पूर्ण भक्ति साहित्य में यह प्रवृत्ति दुर्लभ है। शीर्षकों का नामकरण और कथा के प्रवाह में स्त्रियों को परमात्मा के रूप में चित्रित करने की प्रविधि भी अनोखी है। सूफियों के परमात्मा स्त्री हैं। कबीर, तुलसी से लेकर मीरा तक सबसे परमात्मा पुरुष हैं। इतना ही नहीं सूफियों के यहाँ एक आश्चर्य बात यह देखने को मिलता है कि सूफियों के यहाँ स्त्री के मध्यकालीन टूल्स जैसे – माया, ठगिनी, कामिनी जैसे शब्द नहीं मिलते हैं। क्या यह भी अनायास ही है या सूफियों की सहज अनुभूतियों से निकला विचार है। इस पर गौर करने की जरूरत है।

सूफियों के सन्दर्भ में जो चौथी बात जिसका जिक्र इतिहास लेखन में न के बराबर है कि सूफियों के पास एक सुचिन्तित और निश्चित दार्शनिक प्रयत्न होने के बावजूद उनका अवसान क्यों हो जाता है? इन उपरोक्त कुछ बिन्दुओं पर विचार करके हम साहित्येतिहास लेखन के कुछ नए सूत्र पा सकते हैं।

सन्दर्भ

1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 39

2 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 14-15

3 रामविलास शर्मा - परम्परा का मूल्यांकन, पृष्ठ 47

4 मैनेजर पांडेय - भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, पृष्ठ 23-24

5 रामविलास शर्मा - आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृष्ठ 95

6 वही, पृष्ठ 95

7 वही, पृष्ठ 96

8 वही, पृष्ठ 109

9 वही, पृष्ठ 96

10 वही, पृष्ठ 109

11 रामविलास शर्मा - प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, पृष्ठ 166-167

12 नामवर सिंह - दूसरी परम्परा की खोज, पृष्ठ 92

13 आचार्य रामचंद्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 34

14 वही, पृष्ठ 35

15 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृष्ठ 59

16 नामवर सिंह - दूसरी परम्परा की खोज, पृष्ठ 92

17 आचार्य रामचंद्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 10

18 मैनेजर पाण्डेय - भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, पृष्ठ 47

19 आचार्य रामचंद्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 46

20 वही, पृष्ठ 46

21 (क) हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 41
(ख) परशुराम चतुर्वेदी - उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृष्ठ 16
(ग) रामकुमार वर्मा - हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 186

22 आचार्य रामचंद्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 50

23 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 42

24 आचार्य रामचंद्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 51

25 वही, पृष्ठ 46

26 वही, पृष्ठ 42

27 नगेन्द्र, हरदयाल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 135

28 आचार्य रामचंद्र शुक्ल - त्रिवेणी, मलिक मुहम्मद जायसी, पृष्ठ 15

29 वही, पृष्ठ 15

30 वही, पृष्ठ 15

31 बच्चन सिंह - हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृष्ठ 99

32 वही, पृष्ठ 99

33 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृष्ठ 146

34 वही, पृष्ठ 143

35 विजयदेव नारायण 'साही' - जायसी, पृष्ठ 116

36 आचार्य रामचंद्र शुक्ल (संपा.) - जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ 158

37 आचार्य रामचंद्र शुक्ल (संपा.) - जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ 27

38 शिवकुमार मिश्र - भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, पृष्ठ 129

39 आचार्य रामचंद्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 46

40 रामकुमार वर्मा - हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 287

41 गणपति चंद्र गुप्त - हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृष्ठ 302

42 विजयदेव नारायण साही - जायसी, पृष्ठ 102

43 आचार्य रामचंद्र शुक्ल - जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ 27

44 वही, पृष्ठ 29

45 गणपतिचंद्र गुप्त - हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृष्ठ 314-315

46 वही, पृष्ठ 314-315

47 वही, पृष्ठ 314-315

चतुर्थ अध्याय

निर्गुण भक्ति काव्य और लोकजागरण

4.1 निर्गुण भक्ति काव्य : लोकजागरण का प्रश्न

4.2 निर्गुण भक्ति काव्य : भाषा

4.3 पंथ निर्माण की प्रक्रिया : कबीर और नानक पंथ

4.4 निर्गुण भक्ति काव्य : अवसान

चतुर्थ अध्याय
निर्गुण भक्ति काव्य और लोकजागरण

4.1 निर्गुण भक्ति काव्य : लोकजागरण का प्रश्न

यह एक दिलचस्प तथ्य है कि समकालीन हिंदी आलोचना में भक्ति काव्य के मूल्यांकन के प्रति एक उदासीनता का भाव देखा जा रहा है। भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य के मूल्यांकन से जुड़े आलोचकों ने रामविलास शर्मा, नामवर सिंह और मुक्तिबोध में से किसी ने भी भक्ति काव्य का मूल्यांकन करते समय कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा। मैनेजर पाण्डेय समकालीन आलोचना में एक मात्र आलोचक है जिन्होंने सूरदास की कविता के बहाने भक्ति आंदोलन के स्वरूप पर एक विशद् व्याख्या प्रस्तुत की।

रामविलास शर्मा भक्ति काव्य को लोकजागरण का काव्य मानते हैं तथा उन विचारों का खण्डन करते हैं जो भक्ति आंदोलन को धार्मिक मानता है। उनके विचार से धार्मिक प्रभावों को आधार बनाकर भक्ति काव्य की विषय-वस्तु, भाव, भाषा और विचार आदि का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता क्योंकि सामंती समाज की व्यवस्था में वर्ग संघर्ष धार्मिक लिबास में सामने आता है इसीलिए उनका मानना है कि *"मध्यकालीन भारत में सामाजिक संघर्ष धार्मिक रूप इसलिए लेता है क्योंकि जनता असंगठित थी और उसकी राजनीतिक चेतना पूरी तरह से निखर नहीं पाई थी।"*

रामविलास शर्मा भक्ति आंदोलन को लोक जागरण का जातीय आंदोलन घोषित करते हैं और उसकी प्रेरक शक्तियों के रूप में किसी वर्ण या संप्रदाय की भूमिका के बदले समाज के सभी वर्गों के हिस्सेदारी को अहम मानते हैं। यही कारण है कि वे निर्गुण और सगुण में तात्त्विक विरोध नहीं देखते और न ही उसके सामाजिक आधार वाले सिद्धांत को ही स्वीकार करते हैं। रामविलास शर्मा ने भक्तिकाल के संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थापना यह दिया है कि भक्तिकाल भारत में आधुनिकता का प्रस्थान बिंदु है। कहना न होगा कि रामविलास शर्मा की इसी स्थापना को पुरुषोत्तम अग्रवाल ने 'अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय' में विस्तार के चर्चा की है जिसके संदर्भ में आगे बात की जाएगी। रामविलास शर्मा तुलसी के साहित्य को सामंतवाद विरोधी मानते हैं। उनके अनुसार तुलसीदास ने गरीबी और दरिद्रता पर जिस तरह से लिखा है वैसा वर्णन संपूर्ण हिंदी साहित्य में दुर्लभ है। रामविलास शर्मा तुलसी को क्रांतिकारी कवि के रूप में स्थापित करते हैं।

गजानन माधव मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि रामविलास शर्मा से एकदम भिन्न है। उन्होंने भक्ति आंदोलन के स्वरूप उसके घटकों तथा उनके सामाजिक आधार पर विचार किया। मुक्तिबोध ने यह सवाल उठाया कि *"कबीर और निर्गुण पंथ में अन्य कवि तथा दक्षिण के कुछ महाराष्ट्रिय संत तुलसीदास के अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं?"*[4] मुक्तिबोध निर्गुण संतों की क्रांतिकारिता का स्रोत निर्गुण संतों की जातिगत और वर्गगत स्थिति में तलाशते हैं। मुक्तिबोध इस बात पर जोर देते हैं कि भक्ति आंदोलन का संबंध शास्त्रवादी ताकतों से नहीं था बल्कि वह दक्षिण भारत से आया और उसके प्रसार में जन-साधारण का हाथ था।

नामवर सिंह भक्ति आंदोलन के शास्त्र और लोक के बीच द्वंद्व के रूप में देखते हैं तथा उसे वर्ग संघर्ष का पर्याय मानते हैं।[3] वे अपने इसी दृष्टिकोण के कारण तुलसीदास को शास्त्रीयतावादी और कबीर को भारतीय साहित्य के लोकवादी परंपरा का प्रतिनिधि मानते हैं।

नामवर सिंह आचार्य शुक्ल एवं द्विवेदी के विचारों को परस्पर विरोधी मानते हैं 'दूसरी परंपरा की खोज' में नामवर सिंह ने भक्ति आंदोलन की प्रगतिशील व्याख्याओं को एक साथ जोड़ने का महत्त्वपूर्ण काम किया है, लेकिन वे इन सभी व्याख्याओं को आचार्य द्विवेदी की मान्यताओं के विस्तार की तरह प्रस्तुत करते हैं, भारतीय समाज के मुख्य अंतर्विरोध का सवाल उठाकर जॉन इर्विन के हवाले से उन्होंने 'शास्त्र और लोक के बीच द्वंद्व को वर्ग संघर्ष का पर्याय बना दिया। उनकी व्याख्या से कुछ हद तक सहमत भी हुआ जा सकता है लेकिन कुछ बातों पर गौर करना भी जरूरी है। आचार्य द्विवेदी के लिए शास्त्र और लोक का द्वंद्व वर्ग संघर्ष का आशय नहीं था और उनके लिए न तो सगुण भक्ति शास्त्र का पर्याय थी और न ही निर्गुण भक्ति लोक का। वे इन दोनों में भिन्नता देखते हैं।'

नामवर सिंह हिन्दू-मुस्लिम धर्म के टकराव को भारतीय समाज का मुख्य अंतर्विरोध नहीं मानते, यह बात बिल्कुल ठीक है। जब वे आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि में सांप्रदायिकता और रामविलास शर्मा के विवेचन में हिन्दुत्व प्रेम का आभास देखते हैं, तो भी उनकी बात के समर्थन में कम से कम उपरोक्त विद्वानों के कथनों का प्रमाण तो होता ही है; लेकिन जब वे आचार्य द्विवेदी की 'चार आना' वाली मान्यता को उनकी उदारता के सबूत के तौर पर बड़े उत्साह से

रेखांकित करते हैं, तो आश्चर्य होता है। आचार्य द्विवेदी ने लिखा था कि 'मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर भारत में इस्लाम न भी आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।' ध्यान देने की बात है कि आचार्य द्विवेदी ने यह बात सामान्य ढंग से नहीं, बल्कि 'जोर' देकर कही थी। यह बहुत स्पष्ट है कि भक्ति आंदोलन को इस्लाम के आक्रमण तथा शासन का परिणाम मानने वाली मान्यता का प्रतिवाद आचार्य द्विवेदी ने कई बार किया है, उपरोक्त पंक्तियों का संदर्भ भी वही है। इस्लाम को अगर आचार्य शुक्ल नकारात्मक रूप में देखते हैं तो आचार्य द्विवेदी उसके प्रभाव को चार आने तक सीमित कर देते हैं - यह दोनों आचार्यों के बीच की साझी ग्रंथि है। इस प्रसंग में यह भी याद किया जा सकता है कि 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास' में आचार्य द्विवेदी कबीर को 'जुलाहा जाति में पालित' बताते हैं, उन्हें रामानंद का शिष्य मानते हैं और उन पर मुसलमान की छाया को हटाते हुए यहाँ तक लिख डालते हैं कि *"यह जुलाहा जाति नाथपंथी योगियों की शिष्य थी और इस जाति के लोगों में उनके विश्वास और संस्कार पूरी मात्रा में वर्तमान थे। मुसलमान ये नाममात्र के ही थे। इस नाथभावापन्न सद्‌योधर्मांतरित जुलाहा जाति में पालित होने के कारण कबीर दास में नाथपंथी विश्वास सहज रूप में वर्तमान थे।"*[#]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के खंडन के एकांगी आदेश का ही परिणाम है कि हिन्दू-मुस्लिम टकराव से संबंधित किसी प्रमाण के सामने आने पर उसे स्वीकार करने की बजाय कुतर्क का सहारा लिया जाता है। नामवर सिंह ने लिखा है कि

"यह सही है कि स्रोत के इन श्लोकों में एक जगह देश के 'म्लेच्छाक्रांत' होने का उल्लेख है और यदि 'म्लेच्छ' को मुसलमान का वाचक मान भी लिया जाए तो उससे यह कहा सिद्ध होता है कि गंगादि तीर्थों के भ्रष्ट होने, वेदों के अर्थ तिरोहित होने, व्रतादिक सभी कर्मों के नष्ट होने, पाषंड, पाप, अज्ञान आदि के बढ़ने के लिए ये म्लेच्छ ही जिम्मेदार है और इन्हीं के आक्रमण के कारण कृष्ण का आश्रय ढूँढा जा रहा है?"[1]

'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' में नामवर सिंह के उपरोक्त 'तर्कों' का विश्लेषण करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है कि - *"देश म्लेच्छक्रांत है ('म्लेच्छाक्रांतेषु देशेषु') यह इस प्रसंग-खंड का उद्घोषक वाक्य है, जिस नामवर सिंह यह कहकर हल्का करना चाहते हैं कि 'एक जगह देश के म्लेच्छाक्रांत होने का उल्लेख है'। शायद गीत की टेक की तरह यदि इस वाक्य की बार-बार आवृत्ति होती तो उन्हें समझ में आता कि सचमुच 'देश म्लेच्छाक्रांत है'। तर्क आगे बढ़ता है 'म्लेच्छ' शब्द के अर्थ को लेकर। बड़ी कठिनाई से आलोचक मान पाता है कि 'म्लेच्छ' का अर्थ मुसलमान हो सकता है। वल्लाभाचार्य के समय में यवन (ग्रीक), शक, हूण कोई भारत देश को आक्रांत नहीं किए थे। तब 'म्लेच्छ' का एक ही सीधा अर्थ होता है मुसलमान। यह सब आज अत्यंत अप्रिय प्रसंग लग सकता है, पर इतिहास हमारे प्रिय और अप्रिय लगने से नहीं बनता। इतिहास को दबाने और झुटलाने से वर्तमान अधिक अप्रिय हो सकता है, जो हमारे लिए ज्यादा बड़ी समस्या है।"*[2]

नामवर सिंह ने यदि इस बात पर ध्यान दिया होता कि यह कृष्ण भक्ति संप्रदाय के संस्थापक एक संस्कृत आचार्य का कथन है, किसी लोक कवि का

नहीं, तो उन्हें इतिहास को इस तरह 'दबाने और झुठलाने' की जरूरत नहीं पड़ती। अगर उन्होंने मूल स्रोत (कृष्णाश्रय) पर भी ध्यान दिया होता, तो वे खुद ही देख पाते कि एक सही बात की आड़ लेकर रामस्वरूप चतुर्वेदी खुद किस तरह इतिहास को दबा-झुठला रहे हैं।

बजरंग बिहारी तिवारी ने अपने शोध-परक लेख 'भक्ति के वृहद आख्यान में सत्पुरुषों की पीड़ा' में कृष्णाश्रय की उक्त बहुउद्धृत पंक्तियों के ठीक पहले और बाद वाले *श्लोक*[7] को उद्धृत करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि - *"जिस प्रकार वल्लाभाचार्य का एक प्रतिपक्ष 'म्लेच्छ' शासन है, उसी प्रकार या उससे कहीं बड़ा प्रतिपक्ष वेद विरोधी मतपंथ है। वल्लभाचार्य इसे पाखंडपूर्ण प्रत्यत्न की संज्ञा देते हैं। विचित्र है कि हिन्दी भाषी जनता को 'म्लेच्छाक्रांतेषु देशेषु' का अर्थ समझाने के लिए उद्धृत रामस्वरूप चतुर्वेदी को ये श्लोक उपेक्षणीय लगते हैं। इतिहास को इसी तरह दबाया और झुठलाया गया है।"*[8] यह निष्कर्ष एक हद तक तर्कसंगत है।

शिवकुमार मिश्र के विचार नामवर सिंह के विचार से बिल्कुल अलग हैं। उनके अनुसार "आचार्य शुक्ल और द्विवेदी के भक्तिकाल और भक्तिकाव्य के बारे में की गई स्थापनाएँ उतना भिन्न नहीं है, जैसा कि उन्हें प्रचारित किया गया है। दोनों आचार्यों ने भक्तिकाल और भक्तिकाव्य की समझ हमें दी है। उनकी स्थापनाएँ जहाँ भ्रांत हैं, हमने उन्हें स्पष्टतः रेखांकित किया है, परन्तु कुल मिलाकर दोनों आचार्यों की मान्यताओं में तात्त्विक अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है।"[9] यदि देखा जाए तो भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य संबंधी रामविलास शर्मा और शिवकुमार

मिश्र के विचारों में बहुत हद तक साम्य दिखाई पड़ता है। रामविलास शर्मा को भक्तिकाव्य में कोई अन्तर्विरोध ही नहीं दिखाई पड़ता, तो शिवकुमार मिश्र उन्हें देखकर भी आँखें मूँद लेते हैं। जहाँ तक शिवकुमार मिश्र द्वारा कबीर, सूर, जायसी और तुलसी की रचनाओं के मूल्यांकन का प्रश्न है, उनमें सिद्धांत और व्यवहार की एकता का अभाव है। इसलिए उनके द्वारा किया गया भक्तिकाव्य का संपूर्ण मूल्यांकन हमें आश्वस्त नहीं कर पाता। इसका कारण है कि वे न तो किसी कवि के मर्म को छू पाते हैं और न किसी कविता की मार्मिकता को उद्घाटित कर पाते हैं।

यह सुखद संयोग है अथवा विचित्र विडम्बना कि नामवर सिंह कबीर को लोकवादी परम्परा का कवि मानते हैं तथा उन्हीं से भारतीय शास्त्रीयतावाद के विरुद्ध एक नई और दूसरी परम्परा की शुरुआत की बात करते हैं तो विश्वनाथ त्रिपाठी तुलसीदास को लोकवादी सिद्ध करते दिखाई पड़ते हैं।

मैनेजर पाण्डेय हिन्दी के एक ऐसे मार्क्सवादी आलोचक हैं जो आलोचना-कर्म को एक विचारधारात्मक कर्म मानते हैं, बैठे-ठाले का काम नहीं। उन्होंने 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य' नामक अपनी पुस्तक तथा अन्य कई निबंधों में अपने भक्तिकाव्य संबंधी विचारों और आलोचना-दृष्टि को प्रकट किया है। जहाँ अधिकांश मार्क्सवादी आलोचक भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य के अंतर्विरोधों की चर्चा कर चुप रह जाते हैं अथवा उस पर लीपापोती कर के परदा डालते हैं, वहीं मैनेजर पाण्डेय उन अंतर्विरोधों को उजागर करते हैं और उनके कारणों की तलाश करते हैं। भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य के भीतर गहरे पैठ कर करते हैं। यही कारण है कि वे भक्तियुगीन कविता को लोकधर्मिता की

पहचान कर भक्तिकाव्य और भक्तकवियों के बीच न केवल परस्पर एकता बल्कि उनके अन्तर को भी उद्घाटित करते हैं। वे भक्तिकाव्य वे वैविध्यमूलक अंतर्विरोध की पहचान करते हुए लिखते हैं कि "भक्तिकालीन कविता में वैराग्य है तो जीवन के प्रति अनुराग भी, उसमें परलोकवाद है तो लोकजीवन की विविधता का सौंदर्य भी, निवृत्तिमूलक कामना है तो प्रवृत्तिपरक जीवन प्रेम भी, रहस्यवाद है तो सामाजिक चेतना भी है, मिथकीय चेतना और फंतासी है, तो जीवन के यथार्थ का प्रत्यक्ष बोध भी, तो मनुष्य का ईश्वरत्व भी है, जीवन से संन्यास है तो गृहस्थ जीवन के पारिवारिक संबंधों का चित्रण भी है, विपर्यस्त विश्वचेतना और मिथ्या चेतना की अभिव्यक्ति है तो जगत् बोध और आत्मबोध की एकता भी है। उसमें सांसारिक जीवन की निरर्थकता का वर्णन है तो जन्म से लेकर मृत्यु तक के मानव जीवन के भाव, कर्म और ज्ञानपक्ष का चित्रण भी है। तात्पर्य यह है कि भक्तिकाल में धार्मिक विवेक और जगत विवेक में एकता और अन्तर्विरोध का संबंध बार-बार प्रकट होता है। आज का मनुष्य निश्चय ही उस कविता में व्यक्त जगत विवेक को ही महत्त्व देगा, धार्मिक विवेक को नहीं।"[10]

मैनेजर पाण्डेय के अनुसार भक्तिकाल की कविता में उस युग का यथार्थ परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों रूपों में व्यक्त हुआ है। भक्तिकालीन कवियों का यथार्थबोध कहीं उनके संवेदनात्मक अनुभव के रूप में व्यक्त हुआ है और कहीं धार्मिक विचारधारा से प्रभावित होकर। कबीर की सामाजिक चेतना में उस युग का जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है और उनकी विद्रोह-भावना में सामाजिक वेदना से मुक्ति की कामना प्रकट हुई है। प्रेममार्गी कवि जायसी महल में भी झोपड़ी को भूल नहीं

पाते हैं तो पारिवारिक जीवन में अच्छे-बुरे रूपों की विविधता का चित्रण सूर और तुलसी की कविता की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। उनके विचार में 'रामचरितमानस' का महत्त्व उसके चरित्रों, जीवन-व्यवहारों, जीवनमूल्यों और भावों की मानवीयता में है, न कि उसकी धार्मिकता में। लेकिन वे यह नहीं कहते कि तुलसी के काव्य में वर्ण-व्यवस्था का समर्थन नहीं है, बल्कि इतना जरूर मानते हैं कि तुलसीदास ने भी जातिप्रथा के ज़हर को भोगा था। इसी से इस बात का अंदाजा लगाया जा सकता है कि जब तुलसी जैसे भक्तकवि को जाति-प्रथा के जहर को भोगना पड़ा होगा तो उसी समाज में जनसाधारण और खासकर शूद्रों की उस समय क्या दशा होगी।

सतीश चंद्र भी भक्ति काल की कविता को व्याख्यायित करते हुए एक अलग राय देते हैं। वे लिखते हैं *"भक्ति आंदोलन को सही अर्थों में जन आन्दोलन कहना उचित नहीं होगा क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य अपवाद रूप में इसके अप्रत्यक्ष प्रभाव को छोड़ दें तो जनता के जीवन-स्तर में बदलाव का नहीं बल्कि निज की मुक्ति एवं ईश्वर से रहस्यात्मक एकात्म का था।"*[1] यह व्याख्या सम्पूर्ण भक्ति काल के बारे में है तो इससे असहमत तो नहीं हुआ जा सकता लेकिन यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि निर्गुण भक्त कवियों के वर्णाश्रम व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, साम्प्रदायिकता पर की गयी आक्रामक युक्तियों ने समाज पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं डाला होगा। क्या अनायास ही सिकन्दर लोदी ने कबीर को दंडित किया होगा।

पुरुषोत्तम अग्रवाल की पुस्तक 'अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय' हिंदी में कबीर और उनके बहाने संपूर्ण भक्ति काव्य के बारे में

पश्चिमी शोध के ढाँचे पर लिखी गई एक विस्तृत किताब है। रामानंद को कबीर का गुरु सिद्ध करना पुस्तक का सबसे मुख्य उद्देश्य है और देशज आधुनिकता उस तक पहुँचने की प्रविधि है। तर्क का क्रम कुछ इस तरह है कि कबीर के गुरु रामानंद ही थे, ब्राह्मण रामानंद कबीर के गुरु इसलिए हो सकते थे क्योंकि वह दौर देशज आधुनिकता का था, जिसमें व्यक्ति अपने पेशे से पहचाना जाता था, अपने जन्म से नहीं। औपनिवेशिक शासकों ने अपने हितों के लिए देश की प्रगति को अवरुद्ध किया और नस्लवाद का सिद्धांत जन्म आधारित जाति के रूप में भारतीय समाज पर लागू किया। सत्ता के साथ जुड़े हुए 'ऑफिशियल ब्राह्मणों' ने शास्त्रों के हवाले से वर्णाश्रम के सैद्धांतिक मॉडल को भारतीय समाज की वास्तविकता कहकर प्रचारित किया। परवर्ती काल में जातिगत कट्टरता बढ़ने के चलते वैष्णवों के बीच उदार रामानंदी संप्रदाय को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। अपनी स्थिति को सुधारने के लिये रामानंदियों ने रामानुजी संप्रदाय से भिन्न अपनी एक परंपरा निर्मित की, उन्होंने रामानंद को रामानुजी परंपरा से स्वतंत्र दिखाने के लिये उनके समय को एक सौ वर्ष पीछे सरका दिया और उन्हें एक संस्कृत आचार्य के रूप में प्रचारित किया। इन सबका परिणाम यह हुआ कि भक्ति के आधुनिक अध्येता भक्ति आंदोलन की जाति के आधार पर निर्गुण और सगुण में बांट कर देखने लगे। कबीर और रामानंद के समय के बीच आ गए अंतर के कारण तथा उनके ब्राह्मण होने के कारण आधुनिक अध्येताओं को उन्हें कबीर का गुरु मानने में मुश्किल होने लगी।

अपने दावों, अपने आकार-प्रकार, ढेर सारे संदर्भों और अपनी आक्रामकता से यह पुस्तक आतंकित करती है। इसमें शोध के पश्चिमी ढाँचे को तो अपनाया

गया है, लेकिन पद्धति को नहीं। तथ्य का स्थान पश्चिमी विद्वानों के उद्धरणों ने, प्रमाण का स्थान तर्कों ने और तर्कों का स्थान संभावनाओं ने ले लिया है। किसी भी बात को साजिश कहकर खारिज कर देने वाले 'साजिशवादी' सिद्धांत की बार-बार भर्त्सना करने के बावजूद पुस्तक के अधिकांश निष्कर्ष औपनिवेशिक शासकों, ओरियंटलिस्ट विद्वानों और 'ऑफिशियल ब्राह्मणों' को साजिशकर्ता सिद्ध करने के जरिये ही निकाले गए हैं। मौलिकता के बार-बार दुहराए जाने वाले दावे के बावजूद अधिकांश मान्यताओं की जड़ें देशी या विदेशी विद्वानों के अध्ययन से उठाई गई है और इसका उन्हें श्रेय तक नहीं दिया गया है।

पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण योगदान इस भ्रम का निर्णायक खंडन करने में है कि कबीर विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे, वे जन्मना मुसलमान नहीं थे, बल्कि मुसलमान के घर में पले थे। मध्यकालीन स्रोतों के हवाले से पुरुषोत्तम अग्रवाल ने विश्वसनीय ढंग से यह सिद्ध कर दिया है कि पहले के स्रोतों में इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता, वहाँ उन्हें बिना किसी हिचकिचाहट के जुलाहा बताया गया है। इस किंवदंती को बाद में गढ़ा गया है। निश्चित रूप से यह किंवदंती कबीर के ब्राह्मणीकरण का परिणाम है, यह उच्च जातीय समाज की उस ग्रंथि को संकेतिक करता है जो किसी निम्नजातीय व्यक्ति अथवा मुसलमान को अपने से श्रेष्ठ स्वीकार नहीं करना चाहती। पुरुषोत्तम अग्रवाल इस तथ्य पर भी एक विशेष रणनीति के तहत ही जोर डालते हैं। धर्मवीर आदि दलित चिंतकों द्वारा कबीर को दलित मानक अपनी परंपरा में शामिल करने का विरोध करने के लिए पुरुषोत्तम अग्रवाल उनके मुसलमान होने पर जोर देते हैं और इस बात को खींचकर यहाँ तक

ले जाते हैं कि संवैधानिक रूप से कबीर ओ.बी.सी. थे, इसलिए सवर्ण मात्र पर संदेह करने वाले दलित विमर्श का उन्हें अपनी परंपरा में शामिल करना तार्किक दृष्टि से अनुचित है।

इस किताब में 'देशज आधुनिकता' का जो मिथक गढ़ने की कोशिश की गई है, वह अविश्वसनीय लगती है। कबीर के समय की आधुनिक सिद्ध करने के लिए इस किताब में इस मार्क्सवादी धारणा की आड़ ली गई है कि बड़े सामाजिक परिवर्तनों के मूल में आर्थिक कारण होते हैं। इसीलिए व्यापार के विस्तार को आधुनिकता के साथ जोड़ा गया है। भारतीय समाज और साहित्य का आधुनिक काल बारहवीं शताब्दी में शुरू होता है, इस आधुनिकता का संबंध व्यापार के विस्तार से है, यह मान्यता रामविलास शर्मा की थी, जिसकी चर्चा पहले के अध्याय में कर चुका हूँ। आधुनिकता का प्राथमिक लक्षण है – वैज्ञानिक सोच के साथ तर्क करना। पुरुषोत्तम अग्रवाल की यह बात एक हद तक सही भी है क्योंकि निर्गुण भक्त कवि जितनी वैज्ञानिकता के साथ तर्क करते हैं वैसा मध्यकालीन कविता में दुर्लभ है। लेकिन एक प्रश्न यह उठता है कि आधुनिकता एक क्रमिक विकास और प्रगतिशील प्रत्यय है तो यह आधुनिकता रीतिकाल तक जाते-जाते घोर शृंगारिकता में क्यों बदल जाती है? पुस्तक से ऐसा लगता है कि जैसे यह बात पहली बार कही जा रही है। यह ध्यान देने योग्य है कि आधुनिक काल केवल बड़ा सामाजिक परिवर्तन भर नहीं है, वह युग परिवर्तन है। मार्क्सवादी विद्वान ही नहीं, गैर मार्क्सवादी तक इस बात को स्वीकार करते हैं कि आधुनिकता का आधार पूँजीवाद है। केवल व्यापार का विस्तार सिद्ध कर देने और साहित्य में

मानवतावाद और तर्क की उपस्थिति दिखा देने भर से आधुनिकता का होना नहीं सिद्ध किया जा सकता है। अगर आधुनिकता को पूँजीवाद से नहीं जोड़ेंगे तो इस सवाल का कोई जवाब नहीं दिया जा सकता कि व्यापार में उन्नति के काल तो भारतीय इतिहास में पहले भी मिलते हैं, मानवतावाद, सामंतवाद विरोध इत्यादि साहित्य में पहले भी मिलते हैं – फिर आधुनिक काल की शुरुआत और पहले से क्यों न मानी जाए! रामविलास शर्मा यह बात जानते थे, इसीलिए उन्होंने आधुनिकता के साथ पूँजीवाद की उपस्थिति सिद्ध करने के लिए व्यापारिक पूँजीवाद की अवधारणा पर जोर दिया, जिसका खंडन हो चुका है। पुरुषोत्तम अग्रवाल भी यह बात जानते हैं, इसीलिए सामंतवाद विरोध की बात तो करते हैं, आधुनिकता के आरंभ की चर्चा तो करते है, लेकिन पूँजीवाद के सवाल से बचकर निकल जाते हैं– क्योंकि पूँजीवाद एक परिभाषित व्यवस्था है और मध्यकालीन भारतीय समाज में उसकी उपस्थिति के ठोस आर्थिक तथ्य उपलब्ध नहीं कराए जा सकते। व्यक्तिगत शौर्य की आकांक्षा का परिणाम यह हुआ है कि यह किताब भक्ति आंदोलन के उदय तथा उसके सामाजिक आधार से जुड़े बुनियादी सवालों पर कोई प्रकाश नहीं डालती।

हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना ने भक्ति आंदोलन की जो व्याख्याएँ की हैं, उन पर नजर डालने से उनके आपसी विवादों और उनके द्वारा अपनाई गई रणनीतियों का पता चलता है। इन व्याख्याओं में बहुत सी चीजें नकारात्मक हैं, फिर भी यह एक तथ्य है कि भक्ति आंदोलन के प्रसंग में इतिहासबोध का जितना गंभीर परिचय मार्क्सवादी आलोचकों ने दिया है, उतना गैर मार्क्सवादियों ने

नहीं। अपनी सीमाओं के बावजूद मार्क्सवादियों ने यथासंभव भक्ति आंदोलन की प्रगतिशील व्याख्या करने का प्रयास किया है। भक्ति आंदोलन से जुड़े सवाल और बहसें खत्म नहीं हुई है, बल्कि और बढ़ गई है, लेकिन एक बात स्पष्ट है कि इन सवालों का जवाब सामाजिक गति की बेहतर समझ और बेहतर इतिहासबोध के आधार पर ही दिया जा सकता है। यही वजह है कि भक्ति आंदोलन की व्याख्याओं में मार्क्सवादी आलोचना का योगदान सबसे बड़ा है। उसके भटकाव वहीं पर है, जहाँ उसने समाजबोध और इतिहासबोध की उपेक्षा की है या रणनीति को तथ्यों के ऊपर वरीयता दी है। मुक्तिबोध ने पॉलिमिक्स से बाहर रहते हुए भक्ति आंदोलन की व्याख्या करने का प्रयास किया, इसीलिए उनकी अंतर्दृष्टियों को विकसित किए जाने की संभावना अभी भी बनी हुई है। भक्ति आंदोलन को आधुनिकता के साथ जोड़ने के प्रयास अतिवादी नजर आते हैं, फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उस दौर में बड़े आर्थिक-राजनैतिक और तकनीकी परिवर्तन हो रहे थे, जिन्होंने सामाजिक हलचल उत्पन्न की थी। निर्गुण भक्ति आंदोलन इस सामाजिक परिवर्तन का परिणाम भी था और उसका एक घटक भी। भक्ति आंदोलन में शामिल घटकों, उनके संबंधों तथा अंतर्विरोधों और उस दौर की ऐतिहासिक परिस्थितियों के तथा आगे चलकर रीतिकालीन दौर में उनमें होने वाले बदलावों के बेहतर ज्ञान से ही मार्क्सवादी आलोचना भक्ति आंदोलन तथा भक्ति काव्य की बेहतर व्याख्या कर पाने में समक्ष होगी।

4.2 निर्गुण भक्ति काव्य : भाषा

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्ति काल को भारतीय चिंता धारा का स्वाभाविक विकास माना है।[12] आचार्य द्विवेदी यह मानते हैं कि मध्यकालीन साहित्य की आधारभूमि लोकमत और लोकभाषा है।[13] साहित्येतिहास लेखन में भक्ति काव्य को जन आन्दोलन की संज्ञा दी गई। भक्ति काव्य भाषा के स्तर पर अपभ्रंश का स्वाभाविक विकास है तथा संपूर्ण भक्ति काव्य-परम्परा का विकास यानी 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' है जिसमें वैष्णव मतवाद उत्तर भारत में दक्षिण की ओर से आकर मिला और एक महान जन आंदोलन की नींव पड़ी।

साहित्येतिहास में जिसे जन आंदोलन के रूप में व्याख्यायित किया गया है वह जन आंदोलन जिस कारण से बन पाया उसमें जनभाषा का योगदान महत्त्वपूर्ण है। यह जनभाषा आंदोलन भी था। भक्ति आंदोलन के संबंध में जब मुक्तिबोध यह रेखांकित कर रहे हैं कि निर्गुण भक्ति काव्य में ज्यादातर कवि निचली जातियों से आए थे। ये तथाकथित निचली जातियाँ वह थी जिन्हें देवभाषा संस्कृत पढ़ने की मनाही थी तो इन वर्गों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए लोकभाषा को चुना और कालजयी कविताएँ लिखी। मैनेजर पाण्डेय इसे तथाकथित निचली जातियों का 'भाषिक विद्रोह' कहते हैं। कबीर तो लिखते हैं कि -

'संस्किरत है कूप जल, भाखा बहता नीर।'

कबीर ने इस दोहे में कविता नहीं तर्क किया है। यह तार्किकता ही भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषताओं में से एक है और तर्क के लिए इन कवियों ने अपनी लोक-भाषा को माध्यम बनाया।

इतिहास लेखन में इस बात पर कम ध्यान दिया गया कि भक्ति काल पहली बार लोकभाषा में व्यवस्थित काव्य लिखने की परंपरा शुरू हुई जिसने जनआंदोलन का रूप ले लिया। हालांकि *"इस देश में मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व से ही निश्चित रूप से लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। संपूर्ण साहित्य में ऐसा कोई कथन नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोकभाषा में लिखने के कारण कोई कवि अपने को छोटा समझ रहा हो।"*[4] यह एक कारण हो सकता है कि जिससे निर्गुण कवियों को लोक भाषा में कविता करने के लिए बल मिला होगा। लेकिन निर्गुण भक्ति कविता के अशास्त्रीय होने का आरोप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कबीर के बहाने लगाते हैं। कबीर के विषय में पढ़े-लिखे न होने को लेकर एक युक्ति बहुत प्रचलित है -

'मसि कागद छुयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ'

संभव है कि यह दोहा कबीर ने लिखा हो, संभव है कि न भी लिखा हो। दोनों ही स्थितियों में एक बात तो स्पष्ट है कि यह दोहा कबीर के पढ़े-लिखे न होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। वही कबीर एक जगह लिखते हैं कि -

'सात समुद्र की मसि करूँ, लेखकि सब बनराय
सब धरती कागद करूँ, गुरु गुन लिखा न जाए।'

यह दोहा पिछले दोहे से एकदम अलग है। जब दोनों दोहों को एक साथ रखकर पढ़ते हैं तो यह सोचने को विवश हो जाते हैं कि जो कबीर जीवन भर हर उस वस्तु और तथ्य को अस्वीकार करते हैं जो उनके अनुभव में शामिल नहीं है। मैनेजर पाण्डेय इसे 'अनभै सांचा' और हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे 'अस्वीकार का साहस' कहते हैं। ऐसे कबीर अपने एक दोहे में ऐसा क्यों लिख रहे हैं कि मैंने कलम कागज स्याही का स्पर्श नहीं किया और वहीं कबीर एक दोहे में कागज,

कलम और स्याही के माध्यम से गुरु गुन लिखने की बात करते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि कबीर और काव्य निर्गुण भक्त कवियों के बारे में प्रचारित किया गया हो कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे और उन्हें काव्य लक्षणों की जानकारी भी नहीं थी। कहना न होगा कि इस तरह के आरोप दलित साहित्य के उपर भी लगते रहे हैं इसीलिए उसके सौन्दर्यशास्त्र की माँग हुई।

सुंदरदास निर्गुण भक्त कवियों में सबसे पढ़े-लिखे थे और उन्होंने अपनी कविता संस्कृत के अधिकांश लक्षणों को ध्यान में रखते हुए की। सुन्दरदास का काल कबीर के बाद का है। क्या सुन्दरदास के सामने ऐसी कोई विवशता रही होगी जिससे उन्होंने काव्य लक्षणों का निर्वाह करते हुए कविता लिखी। यह सवाल इतिहास लेखन की परिधि से बाहर ही है।

निर्गुण भक्तिकालीन कविता, जिसकी लोकभाषा में शुरुआत हुयी। उसी परम्परा का अनुसरण करते हुए सगुण भक्ति कविता का भी सृजन हुआ। इन दोनों तरह की कविताओं के कालजयी होने के पीछे इस जनभाषा का योगदान महत्त्वपूर्ण है। इसके जनभाषा में होने के कारण ही यह कविता दरबारों में प्रवेश से वंचित रह गयी। भक्ति काल के पतन के संबंध में एक सूत्र यहाँ से मिलता है कि भक्तिकाल में जनभाषा की कविता को दरबार में प्रवेश नहीं मिला इसका एक मात्र कारण यही है कि ये कवि संस्कृत काव्य शास्त्र में बताए गए काव्य लक्षणों का अनुकरण नहीं कर रहे थे। परन्तु कालांतर में सामान्य कवियों में यह प्रमाणिक करने के लिए कि वे संस्कृत काव्य लक्षणों से परिचित है, काव्य लक्षणों के अनुकरण को परिपाटी ही नहीं चल पड़ी बल्कि लक्षण ग्रंथ भी लिखने शुरु हो गए। यहाँ से रीतिकाल के उद्‌भव का स्रोत भी मिलता है।

निर्गुण भक्ति काव्य में कबीर की भाषा को लेकर सबसे ज्यादा आक्षेप लगा। दरअसल कबीर की भाषा उनके काव्यत्त्व से सीधे जुड़ता है। वस्तुतः कविता की भाषा और विषयवस्तु को अलग-अलग खांचों में रखकर विवेचित नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों चीजों एक दूसरे की पूरक होती है। श्याम सुंदर दास कबीर की भाषा को पंचमेल खिचड़ी कहते हैं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उनकी भाषा के *सधुक्कड़ी भाषा*[15] कहते हैं वस्तुतः इन दोनों आचार्यों के कथन के मूल में भाषा सम्बन्धी एक ही दृष्टि काम कर रही है। व्याकरणिक दृष्टि से कबीर की भाषा में ठाठ है। चूँकि कबीर घुमक्कड़ वृत्ति के गृहस्थ साधु थे इसलिए उनकी बानियों में स्वाभाविक रूप से विविध अंचलों की भाषायें आ गयी है उदाहरणार्थ - ब्रज, अवधी, मैथिली, खड़ी बोली, भोजपुरी, राजस्थानी आदि। इसके अलावा अन्य भाषाओं के भी शब्दों से उन्हें कोई परहेज नहीं है। इसीलिए उनकी कविता में उर्दू, फारसी, संस्कृत जैसी भाषाओं के भी शब्द देखने को मिलते हैं। आचार्य शुक्ल को यह लगता है कि विविध भाषाओं के शब्दों के प्रयोग से कविता की संरचना टूट-फूट सी गयी है और भावाभिव्यक्ति में वह पूर्णताः नहीं रह पाती जो वांछित है, रस योजना बाधित प्रतीत होती है। लेकिन यह तथ्य उल्लेखनीय है कि श्याम सुन्दर दास की टिप्पणी कबीर की भाषा के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक है, जबकि आचार्य शुक्ल की टिप्पणी नकारात्मक हैं। आचार्य शुक्ल जिन कारणों से कबीर की भाषा में काव्यात्मकता का अभाव देखते हैं -

- ❖ एक ही साखी या एक ही पद में अनेक भाषाओं विभाषाओं के शब्दों का प्रयोग उसकी बुनावट को तोड़ता है, जैसे - कलिजुग हम सूं लरि परंया, मोहकम मेरा बांछ। (कलजुग कलयुग का तद्भव है यह देसज भाषा का

शब्द है। हम खड़ी बोली का शब्द है। सूं ब्रज भाषा का शब्द है। लरि तद्भव है परया अवधी और ब्रज दोनों का शब्द है)। बांछ तथा मोहकम फारसी शब्द है। यह तो कबीर की भाषा की विशेषता है कि एक ही दोहे में भाषा की इतनी विविधता है। शायद ही किसी भक्ति काल के कवि में इतनी विविधता हो।

कुछ मुद्दों पर आचार्य शुक्ल से असहमति का कोई अवकाश नहीं रहता। लेकिन उक्त सीमाएँ कबीर के काव्य की अन्तिम सीमाएँ नहीं हैं और न ही भाषा सम्बन्धी उक्त विशेषताएँ कबीर की भाषा की प्रमुख विशेषताएँ ही है। कबीर के काव्य में उनका भक्ति पक्ष और सामाजिक पक्ष इतना समृद्ध है कि यहाँ उनकी सर्वोत्तम कविताई सम्पन्न हो सकी है। जाहिर है कि उसी अनुपात में भाषा में भी गुणात्मक सौन्दर्य आ सका है। जब आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर को भाषा का डिक्टेटर कहते हैं तो उनका आशय यह नहीं कि कबीर भाषा से जोर जबर्दस्ती करते हुए उसकी सहज अभिव्यक्ति को बाधित कर रहे होते हैं बल्कि उनका आशय कबीर के उस अक्खड़ मिजाजी क्रांति धर्मी व्यक्तित्व से है जिसके लिए आचार्य द्विवेदी का कहना है कि – *"कबीर अस्वीकार का अपार साहस लेकर अवतरित हुए उनमें युगान्तर की शक्ति थी, वह युगप्रवर्तन कर सके। कबीर की भाषा भाव की अनुगामिनी है। भाषा से जो कहलवाना होता है वह, कहलवा ही लेते हैं जहाँ सीधे बना वहाँ सीधे, जहाँ नहीं बना वहाँ दरेरा देकर।"*[6]

कबीर की भाषा की डिक्टेटरशिप खासकर उनकी सामाजिक चिन्ता के प्रसंग में दिखलाई पड़ती है जहाँ वह समाज की तमाम रूढ़ बुराईयों के खिलाफ झंडा बुलंद करते हैं। इन स्थितियों में उनका भाव ही प्रधान होता है। अनुभव के

ताप से उठी हुई भाषा यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए कबीर के संकेत पर अपने-आप ढलती चली जाती है-

'मेरा तेरा मनुवा कैसे इक होय रे।
मैं कहता समुझावनहारी, तू राख्यों अरूझाई रे।।'

उक्त पद में मन शब्द को तोड़-मरोड़कर मनुवा बना दिया गया है। इससे भाषा के आक्रामक टोन में इजाफा हुआ है। रे लोक ध्वनि की टेक हैं, जिससे नाटकीयता में वृद्धि हो रही है। इस प्रकार लोक ध्वनि की टेक हारी जो कि कजरी जैसे काव्य रूप में प्रायः प्रयुक्त होती है समुझावन से जुड़कर समुझावन हारी बन जाती है। इन स्थलों पर कबीर की मौलिक सर्जनात्मक शक्ति देखी जा सकती है।

'अरे इन दोउन राह न पायी
हिन्दू अपनी करै बढ़ाई, गागर छुवन न देई।
वेश्या के पावन तर सोवैं, यह देखो हिन्दुआई।।'

उक्त उदाहरण में यदि कबीर ने दोउन शब्द न गढ़ा होता, तो सामाजिक जड़ता के प्रति उनकी खीज की सही-सही व्यंजना न हो पाती। इसी प्रकार हिन्दुआई शब्द गढ़कर वह हिन्दू शब्द का जैसा अर्थापन करते हैं उसमें कबीर की मौलिक प्रतिभा का ही पता चलता है। शास्त्रीय दृष्टि से उनके प्रयोग भले ही भदेस हों किंतु भाषा का यह आक्रामक टोन, विद्रूपात्मक स्थितियों की सटीक व्यंग गर्भितव्यंजना आधुनिक कविता के भाषिक प्रतिमानों में जरूरी समझे जाते हैं यह अकारण नहीं है कि कबीर कदम-कदम पर शास्त्रीय रूढ़ियों का खण्डन करते हुए वैसी ही भाषा की भी तलाश कर सके हैं।

❖ जौ बाभन तू बभनी जाया, आन राह तू काहे न आया।

× × ×

❖ मस्जिद पर चढ़ि मुल्ला पुकारे, क्या साहब तेरा बहरा है।

× × ×

❖ चली है कुल बोरनी, गंगा नहाय।

× × ×

❖ दढ़िया बढ़ाय कै जोगी, होइ गईले बकरा।
काम जराय कै जोगी, होई गइले हिजड़ा।।

जाहिर है कि उपरोक्त उदाहरणों में भाषा का जो अशास्त्रीय प्रयोग देखने को मिलता है उससे आचार्य शुक्ल जैसे समीक्षक भले चिढ़ते हों लेकिन आज के परिप्रेक्ष्य में उसकी सार्थकता क्रमशः खुलती चली गई है। आधुनिक कविता के शर्तों में सर्वोपरि शर्त मानी जाती है –

❖ कविता केवल अनुभूतियों को ही उद्वेलित न करे बल्कि विचारों को भी उत्तेजित करे और इस उपक्रम में भाषा गद्यात्मक मोड़ ले सकती है।

❖ अच्छी भाषा वह मानी जाती है जो विषयवस्तु की व्यापक और सहज सम्प्रेषणीयता सुनिश्चित कर सकें।

❖ सामाजिक विसंगतियों ओर विडम्बनाओं के चित्रण में यदि भदेस शब्दावली आ जाती है तो किंचित गलत नहीं।

ये प्रवृत्तियाँ आधुनिक कविता में निराला से लेकर धूमिल, रघुवीर सहाय, राजकमल चौधरी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि के यहाँ देखी जा सकती है। ऐसी स्थिति में यही प्रतीत होता है कि कबीर महज अपनी ही कथनी के लिए सटीक भाषा की तलाश नहीं कर रहे हैं, बल्कि भविष्य के लिए भी उचित दिशा-निर्देश कर रहे हैं।

4.3 पंथ निर्माण की प्रक्रिया : कबीर और नानक पंथ

कहना न होगा कि निर्गुण भक्ति आन्दोलन के पतन के संबंध में बात करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पंथ निर्माण की प्रक्रिया को जिम्मेदार ठहराते हैं। यह पंथ निर्माण की प्रवृत्ति किस प्रकार से शुरू हुई होगी यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। टायलर वाकर विलियम्स ने अपने लघुशोध प्रबन्ध 'भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक अध्ययन' में इस बात को खोजने की कोशिश की है कि वे कौन से कारण रहे होंगे जिनके कारण पंथनिर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई होगी और जो बाद में भक्ति के ह्रास का कारण भी बना। *"भक्ति आन्दोलन में क्लासिकी दौर में जो प्रमुख भक्त कवि थे, वे प्रायः किसी खास सम्प्रदाय के सन्दर्भ में नहीं लिख रहे थे हालांकि निश्चित रूप से उस दौर के कुछ कवियों के काव्य में पारस्परिक द्वन्द्व या कुछ मतों सिद्धांतों की आलोचना मिलती है परन्तु विचार के स्तर पर उस दौर के सभी कवियों के बीच एक तरह की 'फ्लुइडिटी' (तरलता) भी दिखाई देती है। रूप के स्तर पर उनकी कविता की समानता देखकर यह समझना मुश्किल नहीं है कि इनकी रचनाओं का इस्तेमाल साथ-साथ कैसे किया जा सकता है।"*[17]

इससे जो निष्कर्ष निकल कर आते हैं वह यह है कि भक्ति आन्दोलन के प्रारम्भिक काल में अर्थात् लगभग 1400 ई. से 1650 ई. तक में प्रमुख भक्त कवि न तो अलग-अलग संप्रदायों के संदर्भ में लिख रहे थे और न ही किसी खास संप्रदाय के सिद्धांत को अभिव्यक्ति दे रहे थे।

1650 ई. तक आते-आते इसमें परिवर्तन दिखने लगा और 1650 ई. से पहले निर्गुण और सगुण के बीच जो तरलता थी वह धीरे-धीरे समाप्त होने लगी और निर्गुण और सगुण का स्पष्ट विभाजन तो हुआ ही बल्कि निर्गुण और सगुण के अंदर की आपसी प्रतिद्वंद्विता देखी जाने लगी। इस प्रतिद्वंद्विता के सन्दर्भ में वसुधा डालमिया ने लिखा है कि - *"अनेक संप्रदायों के झुंड में प्रतिद्वंद्विता अक्सर इसीलिए बहुत प्रबल होती थी क्योंकि उन संप्रदायों के उपदेश एक दूसरे से भिन्न नहीं होते थे और उनके श्रोता समान समाजों से आते थे।"*[18] व्यवहार के धरातल पर अधिक लोगों को अपनी तरफ खींचने के लिए तथा अपनी 'हेजेमनी' स्थापित करने के लिए ये सम्प्रदाय कई परम्पराओं को साथ लेकर चलने की कोशिश करते थे। कुछ खास कवियों की रचनाओं को चुनते और अपनी पहचान और अपने सिद्धांत निर्मित करते थे। साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता के सन्दर्भ में विभिन्न प्रकार की रणनीतियाँ अपनाकर उत्तर भारत के धार्मिक संसाधनों और सम्पत्तियों पर कब्जा करने का प्रयास करते थे।

रामानंदी संप्रदाय पर लिखते हुए रिचर्ड बर्गहार्ट ने मध्यकालीन उत्तर भारत में भक्ति संप्रदायों के बीच इस प्रतिद्वंद्विता की भौतिकवादी व्याख्या की है - *"अपनी अलग-अलग हिस्सों में बँटी हुई संरचना के साथ रामानंदी संप्रदाय और शेष हिंदू साधू संप्रदाय के रूप में दिखाई देते हैं जो ऐसे हिस्सों में बंटे हुए वंशों से बनते हैं, जो यांत्रिक प्रजनन से नहीं बल्कि आध्यात्मिक दीक्षा से अपने आप को बनाए रखे हुए थे और जो प्राकृतिक संपत्ति के लिए नहीं बल्कि भिक्षा के लिए क्षेत्र का शोषण करते थे। लंबे समय तक अपने सम्प्रदाय को बनाए रखने के लिए विभिन्न हिन्दू संप्रदाय तीन जरूरी साधनों पर कब्जा करते थे : शिष्य,*

अनुयायी, तीर्थस्थान तथा तीर्थयात्राओं के रास्ते और राजनीतिक आश्रय। इन संसाधनों की उपलब्धता कम थी। हालांकि कुछ संप्रदाय दक्षिण एशिया के सीमावर्ती क्षेत्रों में स्थापित हुए परन्तु लगभग सभी आखिर में गंगा के मैदानों में फैल गए जहाँ सम्प्रदायों की संख्या इतनी ज्यादा थी कि इन सीमित संसाधनों के लिए प्रतिद्वंद्विता बहुत तीव्र थी।"[19]

आज जिसे हम 'निर्गुण' संप्रदाय मानते हैं उन्होंने भी अपने विशिष्ट धार्मिक सिद्धांत का निर्माण किया और अपनी अस्मिता और विचारधारा से जोड़ा। टायलर वाकर विलियम्स इस प्रक्रिया में 'ग्रंथ संग्रह' और अपने विचारधारा के प्रवर्तक गुरुओं के वाणियों के आधार पर दूसरे ग्रन्थ निर्माण को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।[20]

साहित्य इतिहास लेखन में पंथ संबंधित बातों पर चर्चा कम हुयी है, मसलन जिस प्रकार सगुण भक्ति परंपरा में अलग-अलग पंथों के बीच आपसी प्रतिद्वंद्विता रही है, ठीक उसी प्रकार निर्गुण भक्ति परम्परा में आपसी प्रतिद्वंद्विता रही। एक और प्रश्न जिस पर इतिहासकार मौन है वह यह कि कबीर पंथ और नानक पंथ समकालीन थे लेकिन नानक पंथ कबीर पंथ की अपेक्षा ज्यादा सफल हुआ, जबकि साहित्य इतिहास में कबीर नानक से बड़े और क्रांतिकारी कवि माने जाते हैं। यहाँ समस्या यह है कि समाज विज्ञान के विद्वान इतिहासकार भी नानक को अपेक्षाकृत सफल व्यक्तित्व मानते हैं। चूँकि नानक ने एक व्यवस्थित पंथ चलाया, कबीर जीवनभर इसके खिलाफ रहे। बाद में धर्मदास जैसे शिष्यों ने कबीर पंथ की नींव रखी और नानक पंथ सिक्ख मत में परिवर्तित हुआ। यहाँ दूसरा प्रश्न यह है कि क्या नानक अपने समय में कबीर से ज्यादा क्रांतिकारी थे? अगर ज्यादा

क्रांतिकारी थे तो क्या साहित्येतिहासकारों से नानक के मूल्यांकन में कही चूक रह गयी और यदि क्रान्तिकारी नहीं थे तो नानक की तरफ इतनी भारी संख्या में लोग क्यों आकर्षित हुए? उनकी बानियों में ऐसा क्यों था कि उनके अनुयायियों के द्वारा पंथ को एक बड़े धर्म में तब्दील करने की सहूलियते मिली। इन सभी प्रश्नों के जवाब अनुत्तरित है। नानक पंथ के सन्दर्भ में रोमिला थापर लिखती हैं कि – *"यदि सिक्ख कबीर पंथियों की अपेक्षा सफल रूप में एक स्वतंत्र धार्मिक समुदाय के रूप में जीवित रहे, तो इसका कारण यह था कि इन दोनों की शिक्षा में अंतर था। कबीर हिन्दू और मुस्लिम ईश्वरों के प्रति उदासीन रहे हो, परन्तु इन दोनों धर्मों से परिचित नामों द्वारा ईश्वर की बार-बार चर्चा करके उन्होंने स्वयं को दोनों धर्मों के उदार रूढ़िवादी सदस्यों से संबद्ध कर लिया। समय के साथ कबीर पंथी मत हिन्दू मत समझा जाने लगा, यद्यपि आज भी साधारणतया कबीर एक मुस्लिम नाम है। नानक का अनुयायी होने के लिए हिन्दू धर्म अथवा इस्लाम के बाह्यरूपों का अधिक सीमा तक परित्याग करना आवश्यक था। इससे सिखों में एक सशक्त सामुदायिक भावना उत्पन्न हुई। नानक ने इस बात पर आग्रह किया कि यह नया समुदाय समाज में सक्रिय भाग ले और एक और एकांतवासी मत न बन जाए। नानक की मृत्यु के पश्चात् सिक्खों की उत्पत्ति एक अलग धर्म के रूप में हुई। आगे चलकर अनेक स्पष्ट प्रतीक (केश, कंघा, कड़ा, कृपाण, कच्छा) को अपनाने से उनकी पृथकता और बढ़ गई।"*[21]

यहाँ एक बात एकदम स्पष्ट है कि दोनों की शिक्षाओं में अंतर है, तो क्या नानक की शिक्षाएँ जो गुरु ग्रन्थ साहिब में संकलित है, उनसे कुछ अलग है या

उन शिक्षाओं का प्रभाव समकालीन समाज में कबीर की शिक्षाओं से ज्यादा था। दूसरी बात यह कि कबीर अन्त तक अपने को हिन्दू और मुस्लिम धर्म के प्रतीकों से अलग नहीं पाए। यह कुछ सवाल है जिनके जवाब साहित्येतिहास लेखन में नए सूत्र हो सकते हैं। और तीसरी बात यह कि चूँकि कबीर और नानक दोनों ही निर्गुणिएँ है तो कबीर और नानक के समय में आपसी प्रतिद्वंद्विता रही होगी और कालान्तर में बढ़ी होगी शायद इसी कारण से सिक्खों ने प्रतीक के रूप में पंचककारों को रखना शुरू किया होगा और अपनी पहचान को एक निश्चित आधार प्रदान किया।

इसी आपसी प्रतिद्वंद्विता के कारण निर्गुण में दादूपंथ, रविदास, निरंजनी सम्प्रदाय, दरिया साहब पंथ इत्यादि बहुत से पंथ निकले। दरअसल 1650 ई. के आसपास अलग-अलग संप्रदाय सभी कवियों की रचनाओं का समावेश अपने पद संग्रहों में कह रहे थे - इसका सीधा अर्थ यह है कि इन सम्प्रदायों के अनुयायी संत्संग के सन्दर्भ में सभी के गीत गाते थे। टायलर वाकर विलियम्स लिखते हैं कि *"इस व्यवहार के पीछे कोई उदारता नहीं बल्कि एक विशेष नीति थी - इस नीति के अनुसार संप्रदाय अधिक से अधिक भक्त कवियों का और उनके साथ उनकी लोकप्रियता तथा सामाजिक आधार पर भी कब्जा करने की कोशिश करते थे।"*[22] कहना न होगा कि 'गुरु ग्रन्थ साहिब' का संकलन भी इस प्रक्रिया या रणनीति का परिणाम रहा होगा। बाद में चलकर 'पंथ निर्माण की प्रक्रिया' में सगुण भक्त कवियों से ज्यादा निर्गुण भक्त कवियों का प्रयोग हुआ। कबीर को लेकर अलग-अलग शाखाएँ भी बनी। उन शाखाओं के बीच प्रतिद्वंद्विता भी सगुण के मुकाबले अधिक थी। कबीर और नानक पंथ इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

4.4 निर्गुण भक्ति काव्य : अवसान

यह एक दिलचस्प तथ्य है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में भक्ति काव्य-आंदोलन के उदय को लेकर जितनी बेचैनी दिखाई पड़ती है उतनी उसके अवसान संबंधी बहसों को लेकर नहीं दिखती। निर्गुण भक्ति के अवसान और सगुण भक्ति के उदय को लेकर तो हिन्दी आलोचना में उदासीनता का माहौल है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'चिंताधारा के स्वाभाविक विकास' के सहारे पूरे भक्ति आंदोलन को देखेंगे तो निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन होगा क्योंकि निर्गुण से सगुण की यात्रा उतनी स्वाभाविक है नहीं जितनी आचार्य द्विवेदी ने माना है। निर्गुण भक्ति आंदोलन के क्रांतिदर्शी स्वरूप को ध्यान में रखा जाए तो इसने सीमित क्षेत्र में ही सही अपनी प्रगतिशील भूमिका का निर्वाह करते हुए समतामूलक समाज की स्थापना की दिशा में प्रयास किया।

निर्गुण भक्ति आन्दोलन की प्रगतिशील भूमिका की चर्चा करते हुए गजानन माधव मुक्तिबोध सगुण भक्ति शाखा की पुराण-प्रतिपादित शास्त्रवादी भूमिका की ओर संकेत करते हैं। निर्गुण भक्ति आन्दोलन की असफलता के मूल में वे रामभक्ति-शाखा की प्रतिक्रियावादी मूल्यों को दोषी ठहराते हैं। उन्होंने लिखा है कि *"तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति की किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रान्तिकारी जातिवाद विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदास जी ने पुराण मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया।"*[23] मुक्तिबोध सवाल उठाते हैं कि *"रामभक्तिशाखा के अन्तर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद*

नहीं कर सका?"[24] अत: निष्कर्ष यह कि जो भक्ति आंदोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जन-साधारण की सांस्कृतिक आशा-आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका 'मनुष्य-सत्य' बोलता था, उसी भक्ति आन्दोलन को उच्चवर्गियों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके और अनन्तर जनता के तत्त्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया। मुक्तिबोध के इस मत से किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती है कि *"परवर्ती रामभक्त काव्य और उसमें भी विशेषकर तुलसी उस वर्णाश्रमवादी, पुराणप्रतिपादित व्यवस्था के प्रवक्ता के रूप में सामने आते हैं। उनके मानस में निम्नजाति के भक्त को भक्ति के स्तर पर थोड़ी-बहुत सुविधा भले ही दे दी गई हो पर सामाजिक व्यवस्था में तो वे है ही निकृष्ट और 'ताड़न के अधिकारी'।"*[25] पर प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि क्या किसी बाहरी दबाव से ही किसी आन्दोलन का पतन होता है? क्या किसी बड़े आन्दोलन के पतन के लिए तद्युगीन सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों का कोई योगदान नहीं होता है? क्या उस आन्दोलन विशेष के भीतर से पैदा हुई विकृतियाँ उसके लिए उत्तरदायी नहीं होती? और अन्तत: क्या भक्ति आंदोलन को पूरी तरह असफल ठहराया जा सकता है?

भक्ति आंदोलन एक जन-आंदोलन की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति था इसीलिए जिस प्रकार उस युग के प्राय: सभी संघर्षों और विद्रोहों की दिशा भक्ति आंदोलन की ओर मुड़ जाती थी उसी प्रकार उस युग के लोकगीत, प्रेमाख्यान, राजस्तुति आदि सभी काव्य-परम्पराएँ भक्ति के रंग में रंग उठीं। जब तक भक्ति का प्रवाह

सशक्त था तब तक दरबारी रीतिपरम्परा उभरने नहीं पाई, उसका अस्तित्व भर कायम था। यह सब इसलिए हो सका क्योंकि भक्तिधारा एक जन-आंदोलन से जुड़ी हुई थी। पूँजीवाद के पूर्वगामी तत्त्व अभी इतने विकसित नहीं हुए थे कि वे सामन्तवाद के विरुद्ध निर्णायक लड़ाई चला सकें। महाराष्ट्र और पंजाब में दिल्ली की अत्याचारी सत्ता के विरुद्ध व्यापक जन-समर्थन और शिवाजी और सिख गुरुओं जैसे नेतृत्व में चलने वाले प्रतिरोध-संघर्षों से जुड़ जाने के कारण वहाँ भक्ति आंदोलन नया स्वरूप पा सका और लम्बे समय तक टिक भी सका लेकिन आगे चलकर वहाँ भी नई शक्तियों ने अधिकार कर लिया और हिन्दी भक्तिधारा का क्या हुआ? निर्गुण सन्तों के नाम पर जो पन्थ चले उनमें मठों का चक्कर चल पड़ा। कबीर पन्थ में सोने, उठने, दातून करने, तूंबा धोने आदि के मन्त्र जपे जाने लगे। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में, *"जिस धर्मवीर ने पीर, पैगम्बर, औलिया आदि के भजन-पूजन का निषेध किया था, उसी की पूजा चल पड़ी, जिस महापुरुष ने संस्कृत को कूपजल कहकर भाषा के बहते नीर को बहुमान दिया था उसी की स्तुति में आगे चलकर संस्कृत भाषा में अनेक अग्नि-तुल्य वाणियाँ कहीं, उसकी उन्हीं वाणियों से नाना बाह्याचारों की क्रियाएँ सम्पन्न की जाने लगीं।"*[16] एक ओर छोटे-बड़े सम्प्रदायों, पन्थों, मठों और गद्दियों की स्थापना होने लगी, दूसरी ओर सन्त खुद को अवतार घोषित करने लगे। गरीबदास ने अपने को कबीर का गुरुमुख शिष्य बतलाया तो चरणदास ने शुकदेव मुनि का। दरियासाहब (मारवाड़ वाले) दादू साहब के अवतार माने गए तो दरियासाहब (बिहार वाले) दूसरे कबीर कहे जाने लगे। प्राणनाथ के पुराने धर्मग्रन्थों के हवाले देकर बतलाया कि वे कल्कि अवतार

है। इसी के साथ सन्तों की बानी में सहजता के बजाय कृत्रिम कलात्मकता की प्रवृत्ति बढ़ती दिखाई देती है। रीतिकाल के प्रभाव में चित्रकाव्य तक लिखे गए।[27] सन्त साहित्य के नाम पर केवल निस्सार पहेली-बुझौवल और पिष्टपेषण शेष रह गया। क्रांतिकारी सन्त साहित्य की इस अधोगति पर अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा है, *"अठारहवीं, शताब्दी के सन्तकवियों में गतानुगतिका की मात्रा बढ़ती गई और सम्प्रदाय-स्थापना की स्पर्धा उत्तरोत्तर चढ़ाव पर ही रही। जो सन्तकाव्य जगत् के समस्त आडम्बरों को ध्वस्त करके सहज भगवद्प्रेम का पथ प्रशस्त करने का व्रत लेकर चला था, वह अन्त तक साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता, निरर्थक प्रहेलिका-क्रीड़ा और व्यर्थ के शब्दजाल का शिकार हो गया। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक उसकी क्रांतिकारी भावना समाप्त हो गई और वह भी अन्य निहित स्वार्थ वाले मठों के समान अपने ही बनाए बन्धनों में क्रमशः जकड़ता गया। जिन लोगों ने माया को ललकारने का साहस किया था उनके अनुयायी माया के घरौंदों में बन्द हो गए। आखिरी खेवे के सन्तों में भक्तिभावना और धर्मबुद्धि कितनी मात्रा में थी, यह बता सकना कठिन है। पर सहज मार्ग पर पड़ी रहने वाली गन्दगी को दूर करके सहज सत्य तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करने के लिए जिस श्रेणी के साहसिक मनोभाव की आवश्यकता होती है वह क्रमशः क्षीण होता गया और इसीलिए वे ऐसे साहित्य की सृष्टि न कर सके जो मनुष्य को नया आलोक देता है और कठिनाइयों और विपत्तियों से जूझने की प्रेरणा देता है। यह साहित्य केवल शाब्दिक मायाजाल प्रस्तुत करता है और मनुष्य की स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति को अवरुद्ध करता है।"*[28]

इस आन्दोलन के अवसान के कारणों में इस आन्दोलन की परवर्ती परिणतियों को ध्यान में रखना चाहिए। निर्गुण भक्तिधारा जो कि एक आन्दोलन के रूप में उपस्थित हुआ था, बाद के दिनों में 'पंथ निर्माण की प्रक्रिया से जुड़ गया था।' नानक को छोड़कर अन्य निर्गुण सन्तों की पंथ निर्माण में कोई रुचि नहीं थी, पर उनके परवर्ती अनुयायियों ने ऐसा नहीं समझा। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने ठीक ही लिखा है कि *"यद्यपि कबीर आदि निर्गुण संतों ने सिद्धान्त रूप से अवतारवाद का खण्डन किया है फिर भी इनमें सन्देह नहीं है कि इनके अनुयायियों ने इन्हें अवतार बना डाला और सत्य की पूजा करने के बदले वे उन्हें अवतार बनाकर उनकी स्मृति की पूजा करने लगे – जिस बात का इन संत महात्माओं ने विरोध किया उनके नाम पर चलने वाले सम्प्रदायों ने इस बात को उन्हीं के व्यक्तित्व के साथ जोड़कर प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया।"*[89] वस्तुतः पंथ निर्माण की प्रक्रिया तुलसी के काल में तीव्र गति से चल रही थी। तुलसी संतों के नाम से जुड़े पंथों और मठों की आक्षेप की मुद्रा में 'नोटिस' भी ले रहे थे। उनका अपने समकालीन साधुओं और संन्यासियों पर, जोकि विविध सम्प्रदायों एवं मठों से जुड़े हुए थे या जुड़ रहे थे। वस्तुस्थिति चाहे जो हो, पर इससे यह जरूर पता चलता है कि समाज में 'घर जोड़ने की माया' के बरक्स 'पंथ जोड़ने की माया' की प्रक्रिया तेज हो चुकी थी। निर्गुण संतों के परवर्ती अनुयायियों द्वारा विविध पंथ इस समय तक अपने चरम रूप में सामने आ चुके थे। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि 'निर्गुण पंथ के अन्तर्गत सम्प्रदायों का एक जमघट सा लग गया। इन्हीं में से कुछ का नाम कबीरपंथ, दादूपंथ, नानकपंथ। कबीर शिष्य जग्गूदास द्वारा प्रवर्तित जग्गापंथ, जगजीवनदास का सतनामी पंथ, मारवाड़ी दरिया की दरियापंथ, तुलसी साहब के अनुयायियों में प्रचलित हाथरस का शाही पंथ तथा शिवदयाल का राधास्वामी पंथ।' अंतिम दो निर्गुण पंथ की बहुत आधुनिक शाखाएँ हैं।

उपर्युक्त विविध पंथ, पृथक् धार्मिक सम्प्रदायों के रूप में, निर्गुणपंथ के सिद्धांतों के उतने ही विरुद्ध है जितने वे साधारण धर्म जिनकी निर्गुणियों ने भरपूर निन्दा की।[30] इस सन्दर्भ में रोचक बात यह है कि पंथ निर्माण के प्रति जिस तुलसी ने अपना विरोध दर्ज कराया है *"उनके अनुयायियों ने भी एक पृथक् सम्प्रदाय चला दिया जिसका नाम 'साहिबपंथ' पड़ा।"*[31]

जाहिर है परवर्ती निर्गुणियाँ संत की पंथों और मठों के प्रति इस विरोध-भाव का गहरा सम्बन्ध नए पंथों के संकीर्ण साम्प्रदायिक रूप से था। पंथ निर्माण की प्रक्रिया के मूल में मिथों और जनश्रुतियों के माध्यम से संतों के चमत्कारिक एवं अवतारी चरित्र का निरूपण भी है।[32]

भक्ति आंदोलन की विफलता के प्रश्न पर मैनेजर पाण्डेय ने मुक्तिबोध के निष्कर्षों से अपनी पूरी असहमति व्यक्त की है। उनके अनुसार *"वैसे आधुनिक भारतीय भाषाओं के निर्माण और आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास में भक्ति आंदोलन की भूमिका को देखते हुए यह कहना सही नहीं होगा कि वह पूरी तरह विफल हो गया, लेकिन यह भी सच है कि उसका सामाजिक उद्देश्य पूरा न हो सका।"*[33] इस क्रम में उन्होंने डी.पी. मुखर्जी के हवाले से अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि *"भक्ति आंदोलन की सभी धाराओं, विशेषकर निर्गुणधारा की परवर्ती परिणति से यह सिद्ध होता है कि सामाजिक संरचनाएँ और सांस्कृतिक परम्पराएँ प्रायः साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं परंपराओं से अधिक शक्तिशाली होती है। जिस वैदिक पौराणिक परम्परा और उससे पोषित सामाजिक व्यवस्था के विरोध में निर्गुण धारा आगे बढ़ी थी, वह परंपरा अधिक स्थाई साबित हुई।"*[34] इस क्रम में

'कबीर मंसूर' नामक पुस्तक की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि *"कबीर पंथ में कबीर के विचारों के दुर्गति के इतिहास से साबित होता है कि कोई क्रान्तिकारी विचारधारा विरोधियों की आलोचनाओं से नहीं मरती, वह इतिहास प्रक्रिया से बेखबर अनुयायियों की अंधश्रद्धा, कट्टरवादिता और महत्त्वाकांक्षा से मरती है।"*[15] पर क्या कोई विचारधारा मात्र अपनी कमजोरियों एवं कट्टरवादिता से ही मरती है? वस्तुतः यह कहना कि निर्गुण कवियों के अनुयायियों के कारण ही इस आन्दोलन का सामाजिक लक्ष्य प्राप्त न हो सका, अधूरी बात कहना होगा। यह एक कारण हो सकता है, एक मात्र नहीं। 'विरोध, विकृति और समाहार' की जिस प्रक्रिया की ओर मैनेजर पाण्डेय ने इशारा किया है कि यदि उसको ध्यान में रखे तो वर्णाश्रमवादी और पुराण प्रतिपादित मत के पोषकों को इस विचारधारा के सामाजिक लक्ष्य प्राप्त न हो सकने की दिशा में 'क्लीन चिट' नहीं दी जा सकती। हाँ, यह जरूर है कि जातिगत आधार पर किसी पूरी की पूरी जाति को प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का पोषक सिद्ध करना एक दूसरी तरह की अतिवादिता का शिकार होना होगा। जैसे मुक्तिबोध के तर्कों को ध्यान में रखा जाए तो यह प्रश्न भी उठ सकता है कि रामभक्ति शाखा में कोई शूद्र-मुसलमान कवि प्रभावशाली रूप में उभरकर सामने क्यों नहीं आ सका? क्या यह संयोग से कुछ अधिक है? या इसके पीछे भी कोई गहरा सामाजिक-सांस्कृतिक कारण है? प्रसंगवश, नाभादास जो परम्परा से शूद्र माने जाते हैं, रामभक्ति शाखा के ही वैष्णव सन्त थे।

निर्गुण भक्ति आंदोलन के असफलता के सवाल को के. दामोदरन ने भी उठाया है। उन्होंने इस प्रश्न को ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक दृष्टिकोण से

परखने का प्रयास किया है, जो गौरतलब है। उनके अनुसार *"यदि यह आन्दोलन सदा के लिए सामाजिक असमानताओं और जाति-प्रथा से उत्पन्न अन्यायों को खत्म नहीं कर सका तो संभवतया इसका कारण यह था कि कारीगर, व्यापारी और दस्तकार जो कि इस आंदोलन का मुख्यतया आर्थिक आधार थे, अब भी कमजोर और असंगठित थे। और इससे पहले उदीयमान पूंजीपति वर्ग एक वर्ग के रूप में अपना पूर्ण विकास प्राप्त करे, ब्रिटिश पूंजीपतियों ने देश जीतकर अपने कब्जे में कर लिया और ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग बना लिया।"*[36] वस्तुतः के. दामोदरन की उपरोक्त मान्यता अब बहुत मान्य नहीं रह गई है फिर भी निर्गुण भक्ति आंदोलन के आर्थिक आधारों की तलाश की दिशा में हमारी मदद करती है। इस परिप्रेक्ष्य में इतिहासकार हरबंश मुखिया ने भी विचार किया है। दादू साहित्य का विश्लेषण करते हुए हरवंश मुखिया ने लिखा है कि परवर्ती भक्ति आंदोलन का "चिन्तन विरोध का नहीं, अधिक से अधिक उदासीनता का, समाज के टकरावों से बचने के चिंतन का है। जैसा कि मार्क्स ने कहा है, *"हर युग में शासक वर्ग के विचार ही समाज के विचार होते हैं। सिवाय उस स्थिति के जब कोई विशेष वर्ग पूरे विद्यमान सामाजिक ढाँचे को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करता है और ऐसे परिवर्तन के लिए हालात मौजूद होते हैं।"*[37]

निर्गुण भक्ति काव्य के पतन के संबंध में एक बात जो इतिहास लेखन से उपेक्षित रही कि जैसे-जैसे लोकभाषा काव्य ने दरबारों में प्रवेश करना शुरू किया वैसे-वैसे निर्गुण कविता ही क्यों, पूरा भक्तिकाव्य अवसान की तरफ बढ़ने लगा। इन सभी बिन्दुओं पर विचार करते हुए साहित्येहतिहास लेखन को एक नया दृष्टिकोण मिल सकता है।

सन्दर्भ

1 रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ 46

2 गोपेश्वर सिंह (संपा.) - भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, पृष्ठ 113

3 नामवर सिंह - दूसरी परम्परा की खोज, पृष्ठ 93

4 हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृष्ठ 75

5 नामवर सिंह - दूसरी परम्परा की खोज, पृष्ठ 87

6 रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ 42

7 बजरंग बिहारी तिवारी - भक्ति के वृहद आख्यान में सतपुरुषों की पीड़ा, तद्‌भव 6, पृष्ठ 45 से उद्धृत

सर्वेमार्गेषु नष्टेषु कलो च खलधर्मिणी

पाषंड प्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम।।1।।

नानावाद विनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु

पाषंडैक प्रत्यनेषु कृष्ण एव गतिर्मम।।6।।

8 वही, पृष्ठ 45

9 शिवकुमार मिश्र - भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, पृष्ठ 38

10 मैनेजर पाण्डेय - शब्द और कर्म, पृष्ठ 110-111

11 सतीश चन्द्र - उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के उदय में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, गोपेश्वर सिंह (संपा.) - भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार, पृष्ठ 67

12 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 15

13 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृष्ठ 71

14 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 37

15 आचार्य रामचंद्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 52

16 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - कबीर, पृष्ठ 44

17 टायलर वाकर विलियम्स - भक्ति काव्य में निर्गुण सगुण विभाजन का ऐतिहासिक अध्ययन (लघु शोध-प्रबन्ध, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2007), पृष्ठ 44

18 वसुधा डालमिया - 'द अदर इन द वर्ल्ड ऑफ द फेथफुल', होर्स्टमान (संपा.) - भक्ति इन द करेंट रिसर्च में संकलित, पृष्ठ 116

19 रिचर्ड वर्गहार्ट - द फाउडिंग ऑफ द रामानंदी सेक्ट, डेविड लारेंजन (संपा.) - रिलीजियस मूवमेंट इन साउथ एशिया, पृष्ठ 223

20 टायलर वाकर विलियम्स - लघु शोध-प्रबन्ध, पृष्ठ 64

21 रोमिला थापर - भारत का इतिहास, पृष्ठ 281

22 टायलर वाकर विलियम्स - लघु शोध-प्रबन्ध, पृष्ठ 82

23 गोपेश्वर सिंह (संपा.) - भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, पृष्ठ 112
24 वही, पृष्ठ 113
25 वही, पृष्ठ 113
26 हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृष्ठ 159
27 परशुराम चतुर्वेदी - संतकाव्य, पृष्ठ 324
28 हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृष्ठ 291
29 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल - हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, पृष्ठ 160
30 वही, पृष्ठ 261
31 वही, पृष्ठ 262
32 हजारीप्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृष्ठ 94
33 मैनेजर पाण्डेय - भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, पृष्ठ 49
34 वही, पृष्ठ 50
35 वही, पृष्ठ 51
36 के. दामोदरन - भारतीय चिन्तन परम्परा, पृष्ठ 337
37 हरबंश मुखिया - मध्यकालीन भारत : नए आयाम, पृष्ठ 64

पंचम अध्याय

निर्गुण भक्ति काव्य और समकालीन विमर्श

5.1 निर्गुण भक्ति काव्य और स्त्री विमर्श

5.2 निर्गुण भक्ति काव्य और दलित विमर्श

5.3 निर्गुण भक्ति काव्य और आदिवासी विमर्श

पंचम अध्याय
निर्गुण भक्ति काव्य और समकालीन विमर्श

5.1 निर्गुण भक्ति काव्य और स्त्री विमर्श

हिन्दी प्रदेश के अतीत के मध्यकाल में *"मनुष्य सामूहिक रूप से एक जबदी हुई स्तब्ध मनोवृत्ति का शिकार हो जाता है।"* स्तब्ध मनोवृत्ति के शिकार सामाजिक संरचना में स्त्री के लिए जगह थी या नहीं थी यह शोध का विषय हो सकता है लेकिन हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन में स्त्री के लिए बहुत कम जगह है यह साहित्येतिहासों को पढ़ने से स्पष्ट है।

बहरहाल अस्मिताओं की अभिव्यक्ति की दावेदारी वर्तमान समय का नियामक परिदृश्य गढ़ रही है। ये साहित्य इतिहास में पहली बार अपने भागीदारी का प्रश्न उठा रहे हैं। यहाँ 'अनुभूति की ईमानदारी' या 'अनुभूति की प्रामाणिकता' का प्रश्न केन्द्र में है। भक्ति काल में कबीर, रैदास जैसे कवि अपनी 'अनुभूति की दावेदारी' का प्रश्न उठा रहे थे। इस दावेदारी में उनका अनुभव सच ही 'अनभै साँचा' हो गया। भयरहित सहज अनुभूतियाँ इतिहास में अपनी जगह बनाने में नाकाम रही, नाकाम रही या नाकाम कर दिया गया। ये समकालीन इतिहास का एक बड़ा सवाल है। इन्होंने खुद एक ज्ञानमीमांसा विकसित की है, जिसे नामवर सिंह अनुभव सम्मत विवेकवाद कहते हैं। यह अनभै साँचा इतिहास में अपनी परंपरा को तलाश कर रहा है। भक्ति काव्य के सन्दर्भ में यह और जरूरी इसलिए

भी हो जाता है क्योंकि साहित्येतिहास और आलोचना में जिस भक्ति काव्य का इतना अदम्य आकर्षण है वैसे में इस बात की पड़ताल होनी चाहिए कि उस साहित्य इतिहास में स्त्री की जगह कहाँ और कितनी है?

'स्त्री विमर्श' स्त्री की अस्मिता को रसोई और विस्तर के गणित से परे स्थापित करने का एक आन्दोलन है। स्त्री अस्मिता आन्दोलन में देह की उपस्थिति एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय की तरह है। देह और देह से जुड़ी पीड़ाओं को अभिव्यक्त करना एक बड़ी जरूरत थी जो साहित्य में पहले कभी इतना प्रासंगिक बन कर सामने नहीं आया। आजकल देह से मुक्ति की बात करते ही लोग स्त्रियों को चरित्र प्रमाण-पत्र निर्गत करने लगते हैं। 'अनामिका' ने लिखा है कि *"पागल है लोग जो देह मुक्ति का अर्थ देह को मुक्त चारागाह बना देना समझते हैं। हमेशा-हमेशा से औरत की देह ही उसके शोषण की प्राइमरी साइट रही है - मारपीट, गाली-गलौज, बेगार भावहीन, यांत्रिक संभोग, बलात्कार, डायन दहन, पोनोग्राफी, पर्दा-प्रथा और सती, असुरक्षित प्रसव से तद्जन्य बीमारियाँ सबके मूल में देह ही तो है।"*[१] इसलिए देह की मुक्ति को यौन मुक्ति के रूप में देखा जाना भ्रम उत्पन्न करता है।

स्त्री-शोषण की शुरूआत उसके देह से उत्पन्न होती है। इस देह की पीड़ा पितृसत्ता जनित है इसलिए पितृसत्ता से मुक्ति का पहला चरण इस उपनिवेशित स्त्री-देह से मुक्ति ही है। देह पितृसत्ता के लिए शक्ति की जोर आजमाइश का प्राथमिक आधार है। भक्ति काव्य में मीरा के सन्दर्भ में भी यह बात विख्यात है कि किस तरह से उन्हें प्रताड़ित किया गया। इसलिए रचना में देह की उपस्थिति

मुक्ति का आख्यान है और इतिहास लेखन में स्त्रियों की उपस्थिति उस पूरे शोषण से मुक्ति की दावेदारी के बतौर है। रचना में मुक्ति के सवाल से इतिहास लेखन एवं साहित्य-इतिहास लेखन में मुक्ति के सवाल तक की यात्रा में अभिव्यक्ति के तरीके में कुछ कठिनाइयाँ हों सकती है लेकिन इतिहास का एक नया पाठ अब निहायत ही जरूरी हो गया है। साहित्य इतिहास लेखन में उनकी जगह तलाशना परंपरा निर्माण में सहयोगी प्रयास होगा।

स्त्रियों के संदर्भ में निर्गुण भक्ति काव्य को लेकर मुख्य रूप से दो तरह से विचार विमर्श हो सकता है- पहला तो साहित्य इतिहास लेखन में स्त्रियों/स्त्री भक्तों की उपस्थिति को लेकर और दूसरा भक्तिकाल के कवियों का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण को लेकर। यहाँ पहले सन्दर्भ में ही बात की जाएगी, दूसरे सन्दर्भ में तो यह उल्लेखनीय है कि निर्गुण भक्त कविता में सूफियों को छोड़कर सभी भक्त कवियों का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण लगभग एक जैसा है। हिन्दी साहित्येतिहास परम्परा के आरम्भिक दौर से ही छिटपुट परिवर्तनों के साथ केवल मीराबाई के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को ही चिह्नित किया जाता है। इसका मुख्य कारण है कि वह अपने युग में एक सशक्त आवाज है। इस तरह साहित्य में उनकी इस व्यापक हिस्सेदारी को नजरअंदाज न कर पाने का कारण ही यत्र-तत्र उनका जिक्र हुआ है। आरम्भिक साहित्येतिहासों में (उदाहरणार्थ - द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान : जार्ज ग्रियर्सन) मीरा के जन्म स्थान परिजनों आदि से संबद्ध कुछ ऐतिहासिक त्रुटियाँ हैं जो परवर्ती साहित्येतिहासकारों द्वारा संशोधित कर दी गयी है।

सुमन राजे अपने 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' में लिखती हैं कि *"इतिहास लेखन अपने प्रकृति में सामंती होता है।"*[5] इसका कारण बताते हुए वे लिखती हैं *"साहित्य इतिहासकार केवल श्रेष्ठ साहित्य का ही आकलन करता है।"*[6] हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में स्त्री-लेखन को जगह न मिलने का एक कारण वे यह बताती हैं कि चूँकि स्त्रियों का साहित्य वाचिक परंपरा का होता है इसलिए वह इतिहास में अपनी जगह नहीं बना पाता है।

सावित्री सिन्हा ने लिखा है कि *"अधिकांश निर्गुण पंथों में प्रचलित नारी के प्रति घृणा, भर्त्सना व उपेक्षा भाव के बरक्स इन निर्गुण उपासिकाओं की स्थिति अपने आप में महत्त्वपूर्ण एवं सुंदर है। निर्गुण मत में दीक्षित नारियों की वाणी हमें मुस्कुराने का अवसर देती है। उन संतों के लिए इन स्त्रियों की उपस्थिति ही उनकी भर्त्सना को चुनौती देती है। काव्य की इस धारा में स्त्रियों की वाणी तथा ज्ञानात्मक विवेचनाएँ मानों अपने गुरुओं का ध्यान इस ओर आकर्षित करती प्रतीत होती है कि नारी में केवल आकर्षण ही नहीं है।"*[7] इन साधिकाओं में सहजों बाई, फूली बाई, राना बाई, गवरी बाई, आंमा बाई, सुखी देवी, स्वरूपाबाई, बाबरी साहिबा इत्यादि प्रमुख है।

'भक्तमाल' में उल्लेखित स्त्री भक्तों की सूची दी गयी है। लेकिन इनमें से बहुत से स्त्री रचनाकार की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं इसलिए इस बारे में अनुमान लगाना भी कठिन है कि कौन सी रचनाकार सगुण हैं और कौन सी निर्गुण। इनमें से बहुत से स्त्री भक्तों के जीवन आदि के बारे में भी स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है।

संत परंपरा में बाबरी साहिबा का नाम प्रमुख है इन्होंने बाबरी संप्रदाय का प्रवर्तन किया है। परशुराम चतुर्वेदी इनका समय 1599 ई. से 1662 ई. के आस-पास मानते हैं। ये अकबर, संत दादूदयाल और हरिदास निरंजनी के समकालीन है। इनकी साधना पद्धति तथा व्यक्तिगत जीवन के बारे में कोई खास जानकारी नहीं प्राप्त थी। आचार्य द्विवेदी का मत है कि भगवत प्रेम में मस्त रहने के कारण इनका नाम बाबरी पड़ा होगा।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में स्त्री भक्तों की एक लम्बी कतार है- तुलसी, पारवती, रातो क्षत्राणी, रुकमीणी, अम्मा क्षत्राणी, वीर बाई, भवानी, बिरसो, कृष्णदासी, कला मिश्र आदि की वार्ताएँ संकलित है।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में स्त्री भक्तों की सुदीर्घ परंपरा दृष्टिगोचर होती है। इसके प्रथम खंड में उल्लेखित भक्त स्त्रियों के नाम हैं- एक सेठ की बेटी लाहौर की, पीरजादी (अलीखान पठान की बेटी), एक ब्राह्मणी उज्जैन की, एक साहुकार की बेटा की बहु (गुजरात की), एक क्षत्राणी गुजरात की, पाथो गुजरी, गंगाबाई, क्षत्राणी माहवन की, एक कुंजरी, एक वेश्या की छोरी, बीरबल की बेटी व एक स्त्री (क्षत्राणी)।

द्वितीय खंड में एक गुर्जर के बेटे की बहु, अजब कुँवरि बाई, एक वैष्णव बनिया की बेटी, एक ब्राह्मणी उपरावादी, एक क्षत्राणी आगरे की, एक डोकरी, सीताबाई और अचलाबाई की वार्ताएँ हैं। तृतीय खंड में कान्ह बाई, किशोरी बाई, एक क्षत्राणी की बेटी, लाडबाई, धाराबाई व रूपमंजरी के चरित्र वर्णित है। इन वार्ताओं में स्त्री भक्तों के द्वारा वर्ण, वर्ग, जाति एवं धर्म के बंदिशों से परे भक्ति का विस्तृत विवेचन किया गया है साथ ही स्त्रियों के उपासना के निजी व्यक्तित्व का प्रकाशन किया गया है।

कहना न होगा की यह स्त्री भक्त भक्ति की अवधारणा के एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण आयाम प्रस्तुत करती हैं। स्त्री भक्तों के साहित्य के व्यापक मूल्यांकन का आधार प्रदान करती है। भक्ति आंदोलन में स्त्रियों ने अपनी रचनाधर्मिता से उस सांस्कृतिक परंपरा को मूल्यांकित करने का प्रयास किया तथा अपनी सृजनात्मक वृत्ति से अस्तित्व एवं अस्मिता की बात भी की है। उनकी कविताओं में जहाँ एक तरफ पूरी स्पष्टता से जीजिविषा परिलक्षित होती है वहीं मध्यकालीन प्रभुता के विरुद्ध आवाज़ भी है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि उनकी कविताओं पितृसत्ता से विरोध है साथ ही उस शास्त्र रचित सांस्कृतिक परंपराओं से भी।

उमा और पार्वती को भक्ति की कवित्रियों में शामिल करते हुए सावित्री सिन्हा उनके बारे में लिखती हैं कि *"ये निर्गुण काव्य की लेखिका थी इनकी कविता में पुरुष कवियों से भिन्न (सईयाँ) और सद्गुरु के स्वरूप का वर्णन है इनकी अपरिपक्व काव्य भाषा में ग्राम्य शब्दों की बहुलता है। विलक्षण बात यह है कि इनकी कविता में राम की धारणा सगुण रूप में न होकर निर्गुण ब्रह्म के रूप में व्यक्त हुई है।"* जहाँ तक भाषा में अपरिपक्वता का सवाल है कि इस सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि *"हमारे देश में लोक-भाषाओं को बनाने, उसे विकसित करने में योगदान स्त्रियों ने ही दिया है यदि हमें ब्रज, अवधी आदि लोक-भाषा और संस्कृति पर बात करनी है तो इस दिशा में ग्रामीण स्त्रियाँ ही मददगार होंगी। साथ ही मातृभाषा में कविता की शुरुआत होने के कारण जितनी स्त्रियाँ भक्ति आंदोलन के दैरान कविता क्षेत्र में आई वैसी न उसके पहले आई न*

उसके बाद। कइओं से तो वह भाषा ही उत्पन्न हुई है इसी कारण स्त्रियों ने इतने बड़े व क्रांतिकारी स्तर पर काव्य रचा।" पुरुष प्रभुता की सामाजिक संरचना से जिरह करने के लिए ही इन्होंने अपनी भाषा विकसित की।

सहजो बाई और दया बाई दोनों ही निर्गुण साधना की रचनाकार है। सहजो बाई ने स्त्री की अभिलाषाओं को कविता का विषय बनाया है। भक्त कवियों की तरह गुरु महिमा और गुरु को ज्ञान और बुद्धि के निर्माता के रूप में स्वीकार किया है। कर्म फल के सिद्धांत के विरुद्ध लिखने वाली सहजो बाई प्रथम कवियत्री हैं। वह पुनः जन्म की धारणा का तिरस्कार भी करती हैं सहजो बाई की तरह दया बाई भी गुरु की महत्ता को स्वीकार करती हैं। उन्होंने सहज अनुभव के बजाय सुमिरन की भावना को अधिक महत्त्व दिया। दया बाई के यहाँ निर्गुण परंपरा का भाव परिलक्षित होता है। निर्गुण परंपरा के अरूप को ज्ञान एवं ध्यान के द्वारा प्राप्त करना उनका लक्ष्य था, जबकि सहजो बाई भी परंब्रह्म के अवतारी एवं निर्गुण रूप के मध्य समरसता बैठाने की कोशिश करते हैं। दोनों की कविताओं में भावनाओं एवं अनुभूतियों के अतिरिक्त दार्शनिक विषयों के विवेचन यौगिक एवं ज्ञान संबंधी गुणत्तम विषयों को भी प्रतिपादित किया गया है।

स्त्री भक्तों के साहित्य के व्यापक मूल्याँकन एवं विवेचन की दिशा में हिंदी साहित्येतिहास ग्रंथ प्रायः उदासीन ही हैं। शायद, साहित्येतिहासलेखन तथा प्रतिमान स्थापन क्रम में उनकी उपस्थिति ही महत्त्वपूर्ण न जान पड़ी। इस संदर्भ में 'हिंदी-नवरत्न' की भूमिका का यह कथन उल्लेखनीय है कि, *"बहुत दिनों से हमारा यह विचार था कि हिंदी-साहित्य का एक अच्छा इतिहास लिखा जाए, और*

उसमें प्रसिद्ध तथा अच्छे कवियों की रचनाओं पर कुछ विस्तार के साथ समालोचना लिखी जाए।"[8] इस प्रकार यहाँ 'प्रसिद्ध' और 'अच्छे कवियों' के इस निर्धारित प्रतिमान में कोई भी भक्त-कवयित्री अथवा उनका रचना-संसार वर्णन के उपयुक्त ही नहीं जान पड़े।

'मिश्र बंधु विनोद' में प्रताप कुँवरीबाई की संक्षिप्त चर्चा मिलती है। यहाँ उनके काव्य को *'भक्तिपूर्ण'* और *'मनोहर"* बताते हुए, उनके कृतित्व पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। बात संत काव्यधारा की हो, तो इनमें 'बावरी साहिबा' का संक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन 'हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास' भाग-4 (परशुराम चतुर्वेदी) तथा 'हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) ने किया है। बाकी साहित्येतिहासों में भक्ति साहित्य के वर्णन के दरम्यान आम ढर्रे में मीरा के अलावा कोई अन्य स्त्री भक्त को समाहित नहीं किया गया है।

इस प्रकार भक्त-कवयित्रियों की शृंखला में एकमात्र कवयित्री-मीरा को साहित्येतिहास में शामिल करने का जो सिलसिला चला, वह परवर्ती साहित्येतिहासों- 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (संपा. - नगेन्द्र), 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' (बच्चन सिंह), 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' (रामस्वरूप चतुर्वेदी), 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (विजयेन्द्र स्नातक), 'हिंदी साहित्य का सरल इतिहास' (विश्वनाथ त्रिपाठी) आदि तक आते-आते भी वैसा ही बरकरार रहा।

स्त्री साहित्य से संबद्ध शोध एवं अध्ययन के नए मुकाम तय करने की दिशा में सुमन राजे कृत 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' का महत्त्वपूर्ण स्थान

है। अतः स्त्री भक्तों की परंपरा को भी इसमें विस्तारपूर्वक उल्लिखित किया गया है। लेखिका ने बड़ी बेबाकी से यह स्पष्ट किया है कि हिंदी साहित्येतिहास की पीठिका युगविभाजन, नामकरण, एवं पूर्वापरसम्बन्ध-निर्धारण पर आधारित है। परंतु, इस अनन्तनाम-रूपा तक साहित्येतिहास परम्परा में केवल महिला लेखन को ही अध्ययन की स्वतंत्र इकाई नहीं स्वीकारा गया।[10] उल्लेखनीय है कि सुमन राजे ने भक्ति आंदोलन के देशव्यापी प्रसार में बिखरे महिला लेखन के सूत्र भी खोज निकाले हैं। आपने भक्ति की पूर्व-पीठिका स्वरूप, वेदों, उपनिषदों, बौद्ध थेरीगाथाओं, जैनों से होते हुए संपूर्ण देश की स्त्री-भक्तों का विस्तृत उल्लेख किया है। इस ग्रंथ में मुकम्मल शोध एवं तथ्य संबंधी कई त्रुटियाँ भी हैं, परंतु पुरुषों के बरक्स भक्ति-साहित्य में 'स्त्री-पक्ष' के रेखांकन की दिशा में यह ग्रंथ बेहद उपयोगी है। अतः यह स्पष्ट है कि उद्देश्य महज 'आधार इतिहास' प्रस्तुत करना भर नहीं है परंतु उस उपेक्षित आधे भाग के द्वारा साहित्येतिहास के स्वरूप को संपूर्णता प्रदान करना है।

इस प्रकार, प्रस्तुत अध्याय में स्त्री-भक्तों की परम्परा के वर्णनक्रम द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति-परम्परा में उनकी उपस्थिति कितनी सशक्त एवं महत्त्वपूर्ण है। इस कारण, भक्ति साहित्य के पुनर्मूल्याँकन तथा साहित्येतिहास लेखन में उनकी रचनाओं को समाहित करना अत्यावश्यक है। तभी भक्ति साहित्य में शोधरत सभी देशी व विदेशी विद्वानों के चिंतन को प्रामाणिक आधार मिल पाएगा। साथ ही भक्ति साहित्य भी अपना पूर्ण एवं मुकम्मल आकार तभी ग्रहण कर पाएगा। साहित्य इतिहास लेखन में स्त्रियों द्वारा रचित भक्ति साहित्य की परंपरा का अनुशीलन करना जरूरी है जो साहित्य के इतिहास को एक बेहतर दिशा दे सकता है।

5.2 निर्गुण भक्ति काव्य और दलित विमर्श

मध्यकालीन भक्ति आंदोलन में निर्गुण आंदोलन अपनी जिस प्रवृत्ति के कारण सांस्कृतिक इतिहास पर एक अमिट छाप छोड़ता है वह है – लोक क्रांतिकारी प्रवृत्तियाँ। ऐसा लगता है कि इन संतों ने जन सामान्य की आशाओं, आकांक्षाओं को कविता के माध्यम से भक्ति की उठान में जो अत्यन्त प्रकृत रूप में प्रस्तुत किया उससे एक तरफ दलित शोषित जनता में आत्मविश्वास का संचार हुआ, दूसरी तरफ भारतीय सामाजिक व्यवस्था को पुनरालोचन की चुनौती मिली। यह नितांत आश्चर्य जनक लगता है कि महज अंतस्साधना के बल पर कुछ संतों ने ऐसी बातें कही और इतनी शक्ति के साथ कही कि एक तरफ भारतीय दर्शन को मुड़कर आत्मलोचन करना पड़ा। दूसरी तरफ सांप्रदायिक भेदभाव जैसी कुरीतियों को भी गहरा धक्का लगा जिनके बल पर तथा कथित कट्टरपंथी लोग अपने स्वार्थ की रोटी सेंक रहे थे। निर्गुण मत अभिजात्य व्यवस्था को जहाँ सवालिया घेरे में खड़ा कर देती है वहीं सामाजिक सभ्यता के आधार और सद् प्रवृत्तियों के आधार पर एक नयी सामाजिक संरचना के लिए प्रोत्साहन देती है।

निर्गुण भक्तिधारा का साहित्यिक मूल्यांकन करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं – *"इस कालखण्ड के सभी कवि प्रायः अनपढ़ है, इन कवियों ने एक स्तर पर तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, जिससे दलित वर्ग का आत्मविश्वास जगा है और नीची समझी जाने वाली जातियों में नए विश्वास एवं उत्साह का संचार होता है। लेकिन दूसरे स्तर पर ये वेद शास्त्र को समझे बिना उसकी निंदा करते हैं, उनकी छवि लोक भंजक के रूप में नजर आती है।"*[1]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उक्त बातें विशेषतया कबीर के संबंध में कहीं हैं। बाद में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस मत का कड़ा प्रतिवाद करते हैं। वे इन संतों में अस्वीकार का साहस देखते हैं और अस्वीकार का साहस ही निर्गुण साहित्य के सर्जनात्मक पक्ष का प्राणतत्त्व है। चाहे कबीर या भीखा हों, दादू या रैदास हों, ये सभी संत परम्परागत रूढ़िगत सामंती संस्कृति से समर्थित आचार विचार, जीवन, संस्कृति का विरोध करते हैं। कोई परोक्ष रूप से कोई प्रत्यक्ष रूप से लेकिन निर्गुण धारा के सभी कवियों के कृतित्व में भक्ति की शीतल गंगा के नीचे विद्रोह की भी एक सशक्त रचनाधारा बह रही है।

चौदहवीं सदी में मध्य से सत्रहवीं सदी के मध्य तक भक्ति का अनवरत प्रवाह भारत की कोटि-कोटि दलित शोषित जनता के लिए शक्ति और स्फूर्ति का पर्याय रहा, इसलिए ग्रियर्सन से लेकर राम विलास शर्मा तक, साहित्येतिहासकारों-आलोचकों ने इसकी पहचान लोक जागरण-नवजागरण के रूप में की है। निर्गुण काव्यधारा से ही भक्ति का आन्दोलनात्मक स्वरूप दिखाई पड़ता है।

किसी भी साहित्यिक आन्दोलन या कृति के अपने गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार होते हैं। समाज निरपेक्ष जैसी रचना या कृति संभव ही नहीं है। निर्गुण कवियों की रचनाएँ भी इसका अपवाद नहीं हैं। वस्तुतः निर्गुण भक्ति आंदोलन का अपना एक वृहत्तर जनाधार था। समाज के शोषित-पीड़ित वर्ग की समस्याओं से इन आंदोलन का गहरा नाता था। साथ ही अपने व्यापक समाज की मूलभूत चिन्ताएँ इन कवियों की संवेदनाओं में विन्यस्त हैं। पूर्व मध्यकाल में भक्ति को एक व्यापक आन्दोलन के रूप में विकसित करने का श्रेय दक्षिण भारत

के तमिल क्षेत्र के आलवार एवं नयनार संतों को दिया जाता है। परन्तु उत्तर भारत में प्रेमाधारित भक्ति की शुरूआत का उचित श्रेय निर्गुण कवियों को ही दिया जाता है। 'भक्ति द्राविड़ उपजी' की उक्ति इसका प्रमाण है कि भक्ति आन्दोलन का प्रारंभ दक्षिण भारत में पहले पहल शुरू हुआ। ऐतिहासिक रूप से भी इस बात की पुष्टि होती है कि *''आलवारों एवं नायनारों ने ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत प्रेम एवं समर्पण को मोक्ष प्राप्ति का प्रत्यक्ष मार्ग बताया और जाति प्रथा की वर्जनाओं और इसकी कठोरता का विरोध किया।''*[12] वस्तुतः तुर्कों के आगमन से पूर्व की जाति प्रथा और वर्णाश्रम की दार्शनिक निष्पत्तियों को चुनौती मिलनी शुरू हो गई थीं। इसका गहरा सरोकार समाज के अन्त्यज एवं अस्पृश्य कही जाने वाल जातियों से था। पहले-पहल उत्तर भारत में सिद्धों एवं नाथों ने यह चुनौती वर्णाश्रम के समक्ष प्रस्तुत की। इसकी दार्शनिक निष्पत्तियों एवं शब्दावलियों की निर्गुण भक्ति संवेदना के संदर्भ में चर्चा की जा चुकी है, फिर भी इस क्रम में इस विचारधारा की सामाजिक पृष्ठभूमि की चर्चा कर लेना प्रासंगिक होगा। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सिद्धों एवं नाथों में बहुत से ब्राह्मण भी ऐसे थे जिन्होंने ब्राह्मणों के जातिगत अभिमान पर चोट किया। *''बहुत से विद्रोही, उदारमना ब्राह्मण नई एवं श्रमिक जातियों से अधिक निकटता अनुभव करते थे, उनका जीवन, उनकी चिंतन सभी उन्हें अनुदार ब्राह्मण कर्मकाण्ड से अधिक मानवीय, स्वस्थ्य और सहज लगती थी और स्पष्ट है कि सरहपा आदि उसी प्रकार के लोकजीवन से चलने वाले विद्रोही ब्राह्मण थे।''*[13]

आज के इस युग के अस्मितावादी विमर्श में उन सिद्धों की उक्तियों का अपना एक अलग महत्त्व है। आचार्य द्विवेदी ने सरहपाद की एक रचना उद्धृत

करके यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार ब्राह्मणों के जातिगत अभिमान और कर्मकाण्ड पर चोट किया गया है। सरहपा कहते है कि - *"ब्राह्मण के मुँह से पैदा हुए थे, जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होता हैं जैसे दूसरे लोग तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा।"*[14] वस्तुतः वर्णाश्रमवादी व्यवस्था के प्रति सिद्धों-नाथों का वह विद्रोह मानव मात्र की एकता को संपादित करने की दिशा में एक कदम था। नाथों एवं सिद्धों ने वर्णाश्रम की विचारधारा और कर्मकाण्डों को निशाने पर रखा। सिद्धों एवं नाथों की सामाजिक पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए धर्मवीर भारती ने लिखा है कि *''वास्तव में इसके पीछे वही सामाजिक परिस्थिति, जातिगत संघर्ष रहा होगा जिसमें वे ब्राह्मणों द्वारा तिरस्कृत किए जा रहे थे जो केवल कर्मकाण्ड पर निर्भर थे। इन नई प्रवृत्तियों वाले ब्राह्मणों तथा उनके साथ अन्य नई श्रमिक जातियों ने नए तान्त्रिक सम्प्रदाय अपनाए।''*[15] पर नाथों-सिद्धों की परंपरा से जुड़कर और उनकी पारिभाषिक शब्दावलियों को ग्रहण करते हुए भी निर्गुण कवियों की 'कथनी' और संवेदना इनसे बिल्कुल भिन्न है। यह फर्क उनके अपने गृहस्थ जीवन के प्रति आस्था और सामाजिक विसंगतियों को अपने आलोचनात्मक विवेक से परखने के कारण है। वस्तुतः संतो ने नाथों-सिद्धों द्वारा निर्मित बाह्याचारों एवं यौगिक मुद्राओं का उसी तेवर में प्रतिवाद किया है जिस तेवर में वे वर्चस्वशील वर्णाश्रमवादी विचारधारा के बाह्याचारों और कर्मकाण्डों को विरोध करते हैं। यही कारण है कि नाथ-सिद्ध साहित्य के अध्येता रहे धर्मवीर भारती यत्किंचित आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखते हैं कि *''एक ओर संत लोग चौरासी सिद्धों और नाथों की उपेक्षा कर रहे थे किन्तु दूसरी ओर उन्हीं सिद्धों द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण कर उसको एक नया अर्थ देने का प्रयास कर रहे थे।''*[16]

आगे धर्मवीर भारती इस क्रम में लगभग अनुमान की मुद्रा में लिखते हैं कि *''कबीर तथा अन्य संतों का कार्यक्षेत्र निम्न वर्ग ही था। अतः उन्हें उन्हीं सम्प्रदायों द्वारा स्वीकार शब्दावली अपनानी पड़ी होगी किन्तु सन्तों ने उन्हें अपने समय में प्रचलित वज्रयानी सम्प्रदायों के लोकप्रिय पारिभाषिक शब्दों के साथ प्रयोग किया।''*[17] प्रायः निर्गुण कवियों का सम्बन्ध समाज की अश्पृश्य और अन्त्यज समझी जाने वाली जातियों से था। इनमें से कई संतो का सीधा सम्बन्ध शिल्पी जातियों से था। कबीर, रैदास, नामदेव और दादू तो क्रमशः घोषित तौर पर जुलाहा, चर्मकार, दर्जी और धुनिया नामक शिल्पी जातियों से आए थे। यह सभी व्यक्ति की योग्यता और प्रतिष्ठा को महत्त्व देने हुए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थक थे। के. दामोदरन ने भी निर्गुण भक्ति आन्दोलन के आरंभ को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति माना है। उनके अनुसार निर्गुण भक्ति आन्दोलन *''व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं को ऐतिहासिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति था।''*[18] पर साथ ही यह भी सही है कि *''निर्गुण परम्परा में सामान्यरूप से अन्तर्निहित व्यक्ति सत्ता की अवधारणा किसी पूर्णतः विकसित दार्शनिक परिकल्पना का रूप न ले सकी।''*[19] इसके बावजूद 'प्रदत्त सामाजिक अस्मिता' का इन कवियों ने अपने तई विरोध करते हुए एक नए वैकल्पिक समाज व्यवस्था का प्रतिपादन किया। कबीर का 'शून्यदेश' और रैदास का 'बेगमपुरा' इसका प्रमाण है।

निर्गुण कवियों की भक्ति एवं कविता का आधार उनका अपना गृहस्थ जीवन था। इनका गृहस्थ जीवन वैराग्य जीवन की अपेक्षा ज्यादा कठोर और तपोमय था। ऐसे समय में तुर्को का आगमन एक युगान्तकारी घटना के रूप में

सामने आती है। इस क्रम में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अनुमोदित तुर्कों के आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिक्रिया के विचार का आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बहुत पहले खंडन कर दिया था। उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में 'जोर देकर' कहा कि *''अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।''*[20] इस क्रम में आचार्य द्विवेदी ने जो चार आने का अवकाश छोड़ा है उसपर भी विचार कर लेना प्रासंगिक होगा। वस्तुतः तुर्कों के आगमन से एक नई आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई, जिसमें कई शिल्पी और श्रमिक जातियों की स्थिति सुधरी। अपनी आर्थिक स्थिति में आए हुए सुधार से इन शिल्पी और श्रमिक जातियों में अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति एक नई चेतना विकसित हुई। इरफान हबीब के शोध-निष्कर्षों से अपनी सहमति जताते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि *''इरफान हबीब ने 13वीं-14वीं सदी के सन्दर्भ में 'प्रौद्योगिकीय परिवर्तन और समाज' शीर्षक शोध-प्रबन्ध में ठोस तथ्यों के आधार पर यह दिखाने का प्रयास किया है कि तुर्कों के शासन के समय वस्त्र उद्योग, सिंचाई, कागज, प्रौद्योगिकी आदि क्षेत्रों में उल्लेखनीय विकास हुआ। नई तकनीक में कुशल दक्ष कारीगर प्राप्त करने की ललक ने व्यक्तिगत नौकरी लागू करने को प्रोत्साहित किया होगा। कागज के प्रचलन से अखिल भारतीय बाजार के विकास में मदद मिली होगी।''*[21] ऐसे में *''तुर्कों के कारण भारतीय समाज के सामन्ती ढाँचे के अन्दर व्यापारी पूँजीवाद के विकास की दिशा में अवश्य ही कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन हुए होंगे, जो देर-सवेर सामाजिक-साहित्यिक परिवर्तन के लिए भी पृष्ठभूमि तैयार कर सके होंगे।''*[22]

कबीर केवल ब्राह्मण धर्म ही नहीं, समूची रूढ़ सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए यह घोषणा करते हैं। वह अभिजात्यता, साम्प्रदायिकता, कर्मकाण्ड आदि पर पैना प्रहार करते हैं – 'जौ बाभन तू बभनी जाया, आन राह तू काहे न आया' या 'मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी मुर्गा खाई' इत्यादि। कबीर की इस खण्डनात्मक पद्धति में भी लोकधर्म की परिकल्पना है। यह परिकल्पना हमारे आज के समय से सीधे जुड़ती है।

कबीर के यहाँ गोया कि समूचे संत मत में लोक और शास्त्र का ही द्वन्द्व नहीं है, बल्कि लोक और लोक के बीच का भी द्वन्द्व है। वह संसार को ऐसे ही ग्रहण करना चाहते थे जैसा कि वह है। लोक को सावधान करके ही कबीर अपनी आध्यात्मिक चिन्ता से जनता को मुखातिब करते हैं। जिसमें मानवीय शक्ति, मानवीय न्याय और इस सबके ऊपर परम प्रेम की परिकल्पना लक्षित होती है। वह स्पष्ट कहते हैं – 'लोका का तुम हो, मति के भोरा हो।'

लोक और लोक के बीच का द्वन्द्व संतों के यहाँ समूचे अंतर्विरोध के साथ प्रकट हुआ है। लोक में प्रचलित समान कुरीतियों तथा प्रथाओं की निंदा करते हुए उसे विवेकशील बनाना चाहते हैं। इसे भी संत मत द्वारा निर्दिष्ट लोकधर्म के अन्दर ही जाना पहचाना जाना चाहिए। कहना न होगा कि निर्गुण भक्त कविता अपने आन्दोलनात्मक तेवर के साथ दलित-शोषित जनता के पक्ष में खड़ी होती है और समकालीन दलित विमर्श को एक प्रेरणा देती है। दोनों ही आन्दोलनों के केन्द्र में मानवीयता है यही इन दोनों आन्दोलनों का साम्य भी है और विशेषता भी है।

संत काव्यधारा में धुनिया, चमार, जाट, खत्री, क्षत्रिय सभी शामिल हैं। 15वीं शती से 18वीं शताब्दी तक संतमत का आन्दोलन राष्ट्रव्यापी रहा। प्रायः सभी संत गृहस्थ थे सामंतवाद से लोहा लेते हुए ये नवमानवतावाद को जन्म दे रहे थे। 1672 में सतनामियों का किसान विद्रोह इतिहास का प्रथम किसान विद्रोह था। नामवर सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी, शिव कुमार मिश्र आदि आलोचकों ने संत काव्य के अनगढ़ रचनात्मक चरित्र तथा प्रगतिशील वैचारिक दृष्टि को सराहते हुए इसे प्रथम प्रगतिशील रचनात्मक आंदोलन कहा है।

5.3 निर्गुण भक्ति काव्य और आदिवासी विमर्श

आदिवासी अस्मिता पर बात करने पर जो सबसे पहला सवाल होता है वह यह कि आखिर आदिवासी कौन है? इस बहस को समझने में समकालीन आदिवासी विमर्श ने मदद की। इस पर स्पष्ट राय है कि *"आदिवासी धरा के आदि पुत्र है।"*[23] आदिवासी ही इस धरती के मूल निवासी हैं तो क्या कारण रहा कि उन्हें ही सबसे ज्यादा कष्ट सहना पड़ा। जंगलों में रहकर जीवनयापन करने वाला यह समुदाय हाशिए पर रहकर भी अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए निरन्तर संघर्ष करना पड़ा। *"बाहर से आक्रांता आए और युगों-युगों तक चले लंबे आक्रमण, विरोध, संघर्ष और जय-पराजय की प्रक्रिया ने मूलनिवासियों को सुविधाजनक परिस्थितियों से महरुम कर दिया। जो पकड़ लिए गए, उन्हें दास-दलित बनाकर सेवा के लिए कोल्हू के बैल की तरह जोता गया और उनके ललाट पर अछूत की स्थाई मोहर लगा दी। जो खदेड़ दिए गए उन्हें दूर-दराज दुर्गम पहाड़, जंगलों में शरण लेने के लिए बाध्य कर समाज से ही बहिष्कृत कर दिया गया।"*[24] मूलवासी से हाशिए पर किए जाने की इस अमानवीय प्रक्रिया ने भी आदिवासियों की दृढ़ इच्छाशक्ति में कोई कमी नहीं आने दी। उन्होंने अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए लगातार संघर्ष किया। आदिकाल में आर्य-अनार्य संघर्ष तथा वर्तमान दौर में विकास के नाम पर विस्थापन तक, आदिवासियों को अपने अस्तित्व के लिए लड़ते रहना पड़ा है। अस्तित्व का यह संकट आदिवासियों को आदिकाल से ही उनके अस्मिता निर्माण में बाधक रहा। वर्तमान में आदिवासी पहचान को 'जनजाति' या 'वनवासी' कहकर उनके मौलिक रूप का दमन किया गया। विकास के नाम पर उन्हें विस्थापित किया जा रहा है तथा गलत सरकारी

नीतियों के नाते उनके उचित मुआवजें की कोई व्यवस्था नहीं, पुनर्वास की नीतियों में घालमेल है।

आदिवासी विमर्श ने कुछ मूलभूत सवाल उठाए हैं, जो आदिवासी अस्मिता निर्माण में सहायक हैं। मसलन, *"आदिवासियों को मुख्यधारा में लाने की प्रक्रिया में उन्हें दोयम दर्जे का समुदाय बनाने के संभावित खतरों को कैसे टाला जाए।"*[25] सचमुच यह एक बड़ा प्रश्न है। चूँकि भूमण्डलीकरण और उदारवादी आर्थिक नीतियों के चौतरफा दबाबों के कारण अब यह भी संभव नहीं है कि जो तथाकथित मुख्यधारा है, उससे उनको अलग रखा जाय। लेकिन चुनौती यह होगी कि आदिवासियों की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को भी कैसे संरक्षित रखा जाए? विकल्प क्या हो सकता है? इसी से जुड़ा एक और महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि जल, जंगल और जमीन से बेहद प्यार करने वाले कुछ आदिवासी समुदाय बाहरी दुनिया के त्रासद अनुभवों से इतने उत्पीड़ित हुए रहते है कि उन्हें विकास प्रक्रिया में शामिल किए जाने से वे समुदाय अपने जीवन में आक्रामक हस्तक्षेप मानते हैं। उन्हें एक असहनीय दबाव महसूस होता है और मानसिक रूप से पीड़ित भी होते हैं। इसी कारण से अंडमान के जारवा और सैंटेनेलीज मरने तक लगे थे। इसलिए वहाँ विकास प्रक्रिया को रोकना पड़ा। उत्थान के साथ ही उनकी स्वस्थ प्राकृतिक जीवनशैली को कैसे बचाए रखा जाए?

आदिवासियों के सन्दर्भ में इतिहास लेखन से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण सवाल है कि उन्हें इतिहास में जगह क्यों नहीं मिली? हरिराम मीणा ने अपने एक लेख में विजयदेव नारायण साही की कविता का अंश दिया–

'तुम हमारा जिक्र इतिहास में नहीं पाओगे
क्योंकि
हमने अपने आप को इतिहास के विरुद्ध दे दिया है...।'

इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि- *"आदिवासी परिप्रेक्ष्य में अर्थ स्पष्ट है, जिस इतिहास (व्यापक अर्थ में) के विरोध में आदिवासी युगों-युगों से लड़ते रहे, उसमें उन्हें जगह कैसे मिलेगी।"*[26] हरिराम मीणा के इस तर्क से सहमत न होने का तर्क नहीं है। इसी से जुड़ा एक और सवाल है कि अभी तक आदिवासियों का इतिहास क्यों नहीं लिखा गया? उनका वास्तविक इतिहास क्या है? उसकी खोज कैसे की जाए एवं उसे सामने कैसे लाया जाए? चूँकि आदिवासी समाज अक्षर से वंचित रहा, इसलिए वह लेखन जैसी विधा से परिचित नहीं था और इसी कारण से वह अपना इतिहास भी नहीं दर्ज कर सका। अब धीरे-धीरे उसे अक्षर ज्ञान हो रहा है वह शिक्षित हो रहा है, अब वह अपने इतिहास को खोजने लगा है। इतिहास खंगालने की इस प्रक्रिया में इसने जाना कि उस के बीच का 'बिरसा मुंडा' था। उनके बीच की ही 'सिनगी देई' जैसी वीरांगना थीं जो विदेशियों से टक्कर लेती रही। आज ये समुदाय इन लोगों से प्रेरणा पा कर अपने अस्मिता का निर्माण कर रहे हैं। ग्रेस कुजूर उसी से प्रेरणा पा कर कह उठती हैं कि-

'और अगर/ अब भी तुम्हारे हाथों की
अँगुलिया थरथराई
तो जान लो/ मैं बनूँगी एक बार और
'सिनगी दई' बाँधूगी फेटा/ और कसेंगी फिर से
'बेतरा की गांठ'
सच।'

अभी तक आदिवासी समुदाय अपने शोषण पर मूक दर्शक बना रहा। महाजन ठेकेदार, सरकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सब उनको मिलकर लूटते रहे। उनकी जमीन, जंगल और जल पर अधिकार जमाते रहे हैं, लेकिन आदिवासी लेखक अब कलम से तीर का काम कर रहे हैं। ग्रेस कूजूर के शब्दों में कहें तो 'विद्रोह कर रहा है आदिवासी मानव।' आदिवासी समाज बिरसा का आह्वान कर रहा है, भुजंग मेश्राम का कवि मन लिखता है कि-

'बिरसा तुम्हें कही से भी आना होगा / घास काटती दराती हो या लकड़ी कटाती कुल्हाड़ी / यहाँ वहाँ से पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण से/ कहीं से भी आ मेरे बिरसा। खोलों की बयार बनकर/ लोग तेरी बाट जोहते।'

यह आदिवासियों द्वारा केवल अपने एक वीर सिपाही को याद नहीं करना है, यह उसका अस्मिता बोध है जो बदले हुए तेवर में साहित्य में अभिव्यक्त हो रहा है। इसके माध्यम से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य को जोड़ने की मुहिम चल रही है।

आदिवासी समाज में भी विकास के नाम पर बढ़ रहे बाजारीकरण और उपभोक्तावाद के षड्यन्त्र के सवाल को उठाया गया है। आदिवासी लेखक रामदयाल मुण्डा ने इस स्थिति के खिलाफ लिखा है कि- *"मुझको विकास का यह असहाय दर्द देर तक सहना न होगा। समय से पहले मेरा काम तमाम होगा।"*[27]

आदिवासी लोगों के लिए यह चुनौती का काम है कि उन्हें अपनी भाषा, संस्कृति और नाम को बचाकर रखना, तभी सच्चे अर्थों में अस्मिता निर्माण हो पाएगा। इतिहास कभी भी आदिवासियों के पक्ष में नही रहा। द्रोणाचार्यों से दुनिया कभी खाली नहीं रही। परीक्षित के पुत्रों ने नागों का संहार कर दिया था क्योंकि नागों ने उनके

पिता से अपने अपमान का बदला लिया था। यानी जो स्वाभिमान से जीना चाहे उसको जीने नहीं देना चाहिए। इसी तरह उनका स्वाभिमान हर जगह कुचला गया, जरूरत है उस स्वाभिमान को पाने की। विदेशी हमले हुए लेकिन आदिवासियों ने कभी हार नहीं मानी, लड़ते-लड़ते मारे गए, लेकिन उन्होंने कभी अपने स्वाभिमान से समझौता नहीं किया। आदिवासी औरते भी कभी भी इन संघर्षों में पीछे नहीं रही। तुर्क सेना ने रोहतास गढ़ पर हमला किया, पर तीनों ही बार 'कलगी दई' के नेतृत्व में औरतों ने मुकाबला करके उन्हें पछाड़ दिया। इस प्रकार यदि हम इतिहास को टटोलेंगे तो आदिवासी समुदाय का एक समृद्ध इतिहास है। लेकिन उसे प्रकाश में नहीं लाने दिया गया। हिन्दी में कुछ पत्रिकाओं ने विशेषांकों के माध्यम से उस इतिहास को प्रकाश में लाने की कोशिश की है। रमणिका गुप्ता के सम्पादन में दिल्ली से निकल रही 'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका उसमें प्रमुख नाम है।

हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन में आदिवासी साहित्य को जगह नहीं दी गयी। भक्ति काल में आदिवासी साहित्य मौजूद था या नहीं इस सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। आदिवासी साहित्य में दो भागों में बाँट कर देख सकते हैं पहला आजादी से पहले और दूसरा आजादी के बाद। उपनिवेशवादी दौर में बहुत सी रचनाएँ अंग्रेजों के विरोध में लिखी गई। लेकिन उन रचनाकारों और रचनाओं को इतिहास में जगह नहीं मिल पायी। आजादी के बाद और आर्थिक उदारीकरण के बाद तो आदिवासी साहित्य भरपूर मात्रा में लिखा गया। लेकिन उन्हें भी साहित्य इतिहास में जगह नहीं मिल पा रही है। शायद इसीलिए नये इतिहास लेखन की जरूरत महसूस की जा रही है।

जिस भक्तिकाल को हम हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग मानते हैं। उस समय के साहित्य में किसी आदिवासी रचनाकार का जिक्र नहीं है। दरअसल इसका एक मुख्य कारण यह होगा कि आदिवासी लोगों की रचनाएँ मौखिक परंपरा में होती है। उनकी ज्ञान परम्परा ही स्मृति आधारित है। इस कारण से भक्ति काल में लिखित प्रमाण नहीं मिलते।

आदिवासियों की 'भीली रामायण' एक रचना है जो मिलती है। जिसका जिक्र साहित्य इतिहास में उपलब्ध नहीं है। एक ऐसे समय में जब रामायण की तीन सौ ज्यादा व्याख्याएँ मौजूद हैं, ऐसे में उस 'भील रामायण' को लेकर हिन्दी साहित्य का इतिहास और आलोचना दोनों ही उदासीन है। *"आदिवासियों के राम, सीता, कृष्ण, राधा आदि पात्र पूरी तरह समाज के आदर्श नहीं है बल्कि वह समाज के सदस्य हैं। वह सहृदयी तार्किक, लोकतांत्रिक व अधिक मानवीय है।"*[28] हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आदिवासी रचनाकारों की रचनाएँ खोज कर व्याख्यायित करने की जरूरत है क्योंकि आदिवासियों के यहाँ भक्ति की अलग-अलग पद्धतियाँ प्रचलित है। वे मुख्यधारा से ज्यादा प्रकृति के नजदीक है। उनकी भक्ति प्रकृति पर आश्रित है। उनकी भक्ति किस तरह से उनके मौखिक परंपरा की गीतों में मौजूद है, इसे खोज कर बाहर लाने की जरूरत है। कहना न होगा कि उनकी भक्ति निर्गुण परंपरा के ज्यादा नजदीक है। इन सभी बिन्दुओं पर विचार करते हुए हम नए सिरे से इतिहास लिख सकते हैं।

सन्दर्भ

1 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी – मध्यकालीन बोध का स्वरूप, पृष्ठ 12

2 विजय कुमार मिश्र (संपा.) – सामयिक मीमांसा, अंक–1, वर्ष–4, जनवरी–जून 2011, पृष्ठ 16

3 सुमन राजे – हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, पृष्ठ 55

4 वही, पृष्ठ 55

5 सावित्री सिन्हा – मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ 46

6 वही, पृष्ठ 46

7 भक्तिकाल पर संगोष्ठी 2012, जे.एन.यू., नई दिल्ली में. मैनेजर पाण्डेय द्वारा दिए गए व्याख्यान से साभार।

8 मिश्र बन्धु (गणेश बिहारी, श्याम बिहारी व शुकदेव बिहारी मिश्र) – हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ 11

9 मिश्र बन्धु (गणेश बिहारी, श्याम बिहारी व शुकदेव बिहारी मिश्र) – मिश्रबन्धु विनोद, पृष्ठ 57

10 सुमन राजे – हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, पृष्ठ 18

11 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 43

12 इम्तयाज अहमद – मध्यकालीन भारत : एक सर्वेक्षण, पृष्ठ 130

13 चन्द्रकान्त वाडिवेकर (संपा.) – धर्मवीर भारती ग्रन्थावली (भाग–5), पृष्ठ 79

14 हजारीप्रसाद द्विवेदी – कबीर, पृष्ठ 109

15 चन्द्रकान्त वाडिवेकर (संपा.) – धर्मवीर भारती ग्रंथावली (भाग–5), पृष्ठ 166

16 वही, पृष्ठ 265

17 वही, पृष्ठ 265

18 के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृष्ठ 334

19 पुरुषोत्तम अग्रवाल – विचार का अनन्त, पृष्ठ 160

20 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी – हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 16

21 नामवर सिंह – दूसरी परम्परा की खोज, पृष्ठ 75–76

22 वही, पृष्ठ 76

23 रमणिका गुप्ता (संपा.) – युद्धरत आम आदमी, पूर्णांक 55, वर्ष 2001, पृष्ठ 49

24 वही, पृष्ठ 50

25 वही, संपादकीय से

26 वही, पृष्ठ 50

27 रमणिका गुप्ता (संपा.) – युद्धरत आम आदमी, पूर्णांक 61, वर्ष 2002, पृष्ठ 15

28 केदार प्रसाद मीणा – 'हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की समस्या : संदर्भ आदिवासी' लेख से, समसामयिक सृजन, अप्रैल जून 2012, पृष्ठ 223

उपसंहार

उपसंहार

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में निर्गुण भक्तिकाव्य के इतिहास लेखन को लेकर पर्याप्त समस्याएँ रही हैं। इन समस्याओं का एक कारण यह भी है कि कई आलोचक निर्गुण भक्तिकाव्य के अन्तर्विरोधों को उजागर करने के बदले ढँकना चाहते हैं। नामवर सिंह ने भक्तिकाव्य के अन्तर्विरोधों की चर्चा में परहेज करने वाले आलोचकों की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'यह तथ्य है छायावाद तथा नई कविता में निहित अन्तर्विरोधों का उल्लेख किया जाता है। फिर भक्ति आंदोलन के अंतर्विरोधों पर ही परदा क्यों डाला जाए।' वास्तव में ऐसी प्रवृत्तियों के विरोध करने की तथा अंतर्विरोधों पर से परदा उठाकर सच्चाई की तहों में जाने की जरूरत है। संभवतः भक्तिकाल संबंधी मूल्यांकन की इन्हीं प्रवृत्तियों को मद्देनजर रखते हुए मैनेजर पाण्डेय ने भी लिखा है कि 'हिन्दी आलोचना में भक्ति आंदोलन की व्याख्या की एक विडम्बना यह है कि कुछ आलोचक उस आंदोलन के तिल भर अंतर्विरोध को ताड़ बनाकर पेश करते हैं तो कुछ अन्य केवल सतही समानाताओं की आड़ में विभिन्न स्वरों के बीच विरोध को छिपाने की कोशिश करते हैं। दोनों स्थितियों में भक्ति आंदोलन के समग्र स्वरूप की ठीक-ठीक पहचान खतरे में पड़ जाती है।'

भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य को लेकर उठने वाले विवादों में सबसे पहला विवाद उसके उदय के कारणों और स्रोतों को लेकर है। आचार्य शुक्ल का

मानना है कि भक्तिकाव्य इस्लाम और मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया का फल है। इसलिए उन्होंने लिखा है कि 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया था अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग न बचा था।' यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आचार्य शुक्ल भक्तिकाल को मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया बताकर उसके उद्‌भव के पीछे सक्रिय सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक शक्तियों की सक्रियता की पहचान में चूक जाते हैं। यही कारण है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त स्थापना का विरोध तथा खण्डन करते हैं। आचार्य द्विवेदी के अनुसार 'यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेल लिए जा रही थी।' इसलिए उनका मानना है कि 'अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।' आगे चलकर उन्होंने हिन्दी 'साहित्य : उद्‌भव और विकास' में अपनी इस स्थापना को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।' लेकिन रामविलास शर्मा न केवल आचार्य शुक्ल बल्कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की मान्यताओं का भी खण्डन करते हुए भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य को लोकजागरण और जनसंस्कृति का काव्य कहते हैं। अपनी इस

मान्यता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'संत साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थतियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत-बौद्ध धर्म या इस्लाम में या हिन्दू धर्म में ढूँढना सही नहीं है। इन धर्मों का उस पर असर है, लेकिन ये उसके मूल स्रोत नहीं हैं।' यह ठीक है कि रामविलास शर्मा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्थापनाओं से अलग हटकर भक्तिकाव्य को देखते हैं, लेकिन वे भी भक्तिकाव्य पर इस्लाम या बौद्ध धर्म के प्रभाव से इनकार नहीं करते। फिर भी वे इन प्रभावों से होने वाले परिवर्तन एवं विकास के विवेचन-विश्लेषण से नजरे चुरा जाते हैं। शायद रामविलास शर्मा को लक्ष्य करके ही मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि 'कुछ लोग भक्ति आंदोलन को इस्लाम और मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया समझते हैं तो कुछ दूसरे उस पर इस्लाम का अत्यन्त सीमित प्रभाव मानते हैं। जो लोग भक्ति आंदोलन को लोकजागरण का आंदोलन और जनसंस्कृति की अभिव्यक्ति कहते हैं वे भी लोकजीवन ओर जनसंस्कृति के भीतर इस्लाम के सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों को अस्वीकार नहीं करते। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे सभी आलोचक भक्तिकाव्य में उन प्रभावों की उपेक्षा करते हैं।'

भक्तिकाव्य के इतिहास लेखन की समस्याओं में सगुण-निर्गुण, भक्ति और रीति, लोक और शास्त्र के द्वन्द्व आदि की चर्चा की जाती है। रामविलास शर्मा के अनुसार भक्तिकाव्य का मुख्य अन्तर्विरोध भक्ति और रीति के बीच है। उनके अनुसार मुख्य अंतर्विरोध सामंत और सामंत विरोधी वर्गों के बीच तथा उनकी वर्गीय संस्कृतियों और मूल्यों के बीच था। सामंतवाद और सामंतवाद विरोध का मुख्य अंतर्विरोध ही वस्तुतः रीति और भक्ति के अंतर्विरोध के रूप में प्रतिबिम्बित

होता है। दूसरी ओर हैं आलोचक नामवर सिंह जिनके अनुसार 'मध्यकाल के मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच द्वंद्व का है।'

निर्गुण भक्तिकाव्य के इतिहास लेखन की समस्याओं में एक प्रमुख समस्या आलोचकों द्वारा लोकधर्म की विभिन्न व्याख्याओं में भी दिखाई पड़ता है। लोकधर्म की बात आचार्य शुक्ल भी करते हैं, परन्तु उनका 'लोकधर्म संसार जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार कर आगे बढ़ता है।' इस प्रकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल का लोकधर्म यथास्थितिवाद का समर्थक है। दूसरी ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी बकौल नामवर सिंह 'सामान्य जन में प्रचलित टोना, टोटका, तंत्र-मंत्र, मिथक आदि विश्वासों को ही लोकधर्म मानते हैं।' इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे लिए आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के लोकधर्म संबंधी मान्यताओं को स्वीकार करना कठिन ही नहीं असंभव भी है। चूँकि लोकधर्म रूढ़ि और अंधविश्वास नहीं होता, इसलिए इन आचार्यों के लोकधर्म संबंधी मान्यताएँ ग्राह्य नहीं हो सकती। दूसरी तरफ रामविलास शर्मा भक्तिकाव्य को लोकजागरण का काव्य कहते हुए उसे लोकधर्म से जोड़ते हैं तो नामवर सिंह लोकधर्म को जनसाधारण के विद्रोह की विचारधारा कहते हैं। इन आलोचकों की मान्यताओं के विवेचन से यह बिल्कुल जाहिर होता है कि लोकधर्म के आंतरिक द्वन्द्व की पहचान नहीं हो सकी है। मैनेजर पाण्डेय ने लोकधर्म के स्वरूप और उसके आन्तरिक द्वन्द्व की पहचान करते हुए लिखा है कि 'भक्ति आंदोलन के साथ जो नया लोकधर्म विकसित हुआ है, वह सभी कवियों के यहाँ एक जैसा नहीं है। दूसरी भारतीय भाषाओं के भक्तिकाव्य के लोकधर्म की स्थानीय विशेषताओं को छोड़ दे और केवल हिन्दी

के भक्तिकाव्य को देखें तो भी यह समझना बहुत कठिन न होगा कि कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा के लोकधर्म का रूप एक-सा नहीं है। वैसे जब शास्त्रबद्ध और संघबद्ध धर्म भी आरोपित एकता के बावजूद समाज के सभी वर्गों और समुदायों के बीच समान अर्थ और रूप में माना नहीं जाता तब किसानों, कारीगरों, पंडितों और स्त्रियों का लोकधर्म एक कैसे होगा।' कहना न होगा कि लोकधर्म के इसी आन्तरिक द्वंद्व की पहचान के अभाव में भक्तिकाव्य का सम्यक् मूल्यांकन अभी तक संभव न हो सका है।

इतिहास लेखन की समस्याओं में विचार करते हुए अन्तर्विरोध सगुण-निर्गुण विवेचन और स्त्रियों के प्रति व्यक्त दृष्टिकोण में भी मिलता है। यही कारण है कि उनके सगुण-निर्गुण संबंध मान्यताओं को लेकर काफी वाद-विवाद हुए हैं। भक्तकवियों में सूर और तुलसी यदि एक जगह निर्गुण का खण्डन करते हैं तो दूसरी जगह दोनों की एकता पर बल भी देते हैं। लेकिन विचित्र विडम्बना है कि रामविलास शर्मा जैसे आलोचक इस अन्तर्विरोध को 'सगुण-निर्गुण प्रपंच' कहकर इस पर परदा डालने का काम करते हैं। उन्हें संपूर्ण भक्तिकाव्य में इस प्रकार का कोई वैचारिक अन्तर्विरोध दिखाई ही नहीं पड़ता। लेकिन भक्तिकाव्य के अन्तर्विरोधों की अचूक पहचान करने वाले आलोचक मैनेजर पाण्डेय के अनुसार सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक प्रक्रिया के साथ सभी भक्त कवियों का संबंध एक जैसा नहीं है। यही कारण है कि उस युग की अनेक सामाजिक वास्तविकताओं और स्थितियों के बारे में उनकी राय भी एक जैसी नहीं है। इसका स्पष्ट प्रमाण हम स्त्रियों के बारे में उनके दृष्टिकोण के अन्तरों से समझ सकते हैं।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में निर्गुण काव्य का भाषिक विद्रोह अपने आप में अनूठा है। संस्कृत पढ़ने की मनाही उनकी अभिव्यक्ति में बाधा नहीं बनी और उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के लिए लोकभाषा को चुना जो बाद में चलकर जनआंदोलन का रूप धारण कर लेती है और सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की सशक्त आवाज बनकर उभरते हैं।

निर्गुण भक्ति काव्य का पतन जिन कारणों से होता है उनमें पंथ निर्माण की प्रक्रिया प्रमुखतया से जिम्मेदार है। मुक्तिबोध के मत से आंशिक सहमति है कि सगुण भक्ति के आगमन ने भी निर्गुण भक्ति को पीछे ढकेल दिया। लेकिन कृष्ण भक्ति काव्यधारा में मिलने वाले सूत्रबद्ध श्रृंगारिकता ने रीति काव्य के लिए द्वार खोल दिए इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

पंथ निर्माण की प्रक्रिया में निर्गुण भक्तों में प्रतिद्वंद्विता अधिक थी। इस शोध में विशेषतया कबीर और नानक के संदर्भ में विचार किया गया है। क्या कारण रहे होंगे कि बाद में चलकर कबीर का पंथ नानक पंथ की अपेक्षा पिछड़ गया। नानक पंथ एक व्यवस्थित धर्म का रूप धारण कर लेता है। इन्हीं कुछ सवालों का जवाब ढूँढ़ते हुए यह शोध लिखा गया है। कोशिश रही कि यह सभी अध्ययन पूर्वाग्रह से मुक्त होकर किया जाए। इतिहास लेखन की समस्याओं के सन्दर्भ में कुछ सूत्र दे पाए यही इस शोध की सफलता होगी। सीमाएँ तो होंगी ही, क्योंकि सीमाएँ ही नए शोधों और नए इतिहास लेखन का आधार बनती हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आधार सामग्री (Primary Sources)

- ग्रियर्सन, जार्ज- ***'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास',*** अनु. किशोरी लाल गुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1957
- गुप्त, गणपति चन्द्र- ***'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (भाग-1)',*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007
- चतुर्वेदी, परशुराम (संपा.)- ***'संत और सूफी साहित्य',*** भक्तिकाल (निर्गुण भक्ति), संवत् 1400-1700 वि.), हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (भाग-4), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2001
- चतुर्वेदी, परशुराम- ***'उत्तरी भारत की संत परम्परा',*** साहित्य भवन प्रा.लि., इलाहाबाद, 2009
- चतुर्वेदी, रामस्वरूप- ***'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास',*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993
- तासी, गार्सा द.- ***'हिन्दुई साहित्य का इतिहास',*** अनु. डॉ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1953
- द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद- ***'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
- द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद- ***'हिन्दी साहित्य की भूमिका',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
- नगेन्द्र, डॉ. (सं.)- ***'हिन्दी साहित्य का इतिहास',*** मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 2007
- बड़थ्वाल, पीताम्बरदत्त- ***'हिन्दी काव्य की निर्गुणधारा',*** अनु. और संपा. परशुराम चतुर्वेदी, भागीरथ मिश्र, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995

- मिश्रबन्धु- ***'मिश्र बन्धु विनोद (खण्ड-1-4)',*** गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, 1991
- राजे, सुमन- ***'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास',*** भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2004
- लोरेंजेन, डेविड एन.- ***'निर्गुण संतों के स्वप्न',*** अनु. धीरेन्द्र बहादुर सिंह, श्रृंखला संपा. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- वर्मा, रामकुमार- ***'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- सिंह, बच्चन- ***'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास',*** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
- सेंगर, शिव सिंह- ***'शिव सिंह सरोज',*** (संपा.) किशोरीलाल गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1970
- शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र- ***'हिन्दी साहित्य का इतिहास',*** प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2009

सहायक स्रोत/संदर्भ (Secondary Sources/References (Hindi))

- अग्रवाल, पुरुषोत्तम- ***'अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- अवस्थी, मोहन- ***'हिन्दी साहित्य का विवेचनपरक इतिहास',*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011
- ओरसीनी, फ्रंचेस्का- ***'हिन्दी का लोकवृत्त',*** वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011
- श्रीवास्तव, बदरी नारायण- ***'रामानन्द सम्प्रदाय और हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव',*** हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, 1957
- श्रेष्ठ, कमलकुल- ***'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य',*** चौधरी मान सिंह प्रकाशन, अजमेर, 1953
- कश्यप, श्याम- ***'हिन्दी साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएँ',*** हिन्दी माध्यम कार्यन्वयन निदेशालय, दिल्ली, 1999
- कार, ई.एच.- ***'इतिहास क्या है',*** मैकमिलन इण्डिया लिमि., 2006
- कीथ, ए.बी.- ***'संस्कृत साहित्य का इतिहास',*** अनु. मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1967
- कुमार, केसरी- ***'साहित्य के नये धरातल : शंकाएं और दिशाएं',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980
- कैल्वार्ट, विनांड एम.- ***'द हिन्दी बायोग्राफी ऑफ दादू दयाल',*** मोतीलाल बनारसीदास, प्रा.लि., दिल्ली, 1988
- कोशाम्बी, डी.डी.- ***'मिथक और यथार्थ'***, अनु. नन्दकिशोर नवल, दि मैकमिलन कं. ऑफ इण्डिया लिमि., 1976
- कौशिक, कुँवर बहादुर- ***'इतिहास-दर्शन एवं प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन',*** विद्यार्थी पुस्तक भंडार, गोरखपुर, 1996
- गुप्त, गणपति चन्द्र- ***'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (भाग-1)',*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007

- गुप्त, माताप्रसाद- ***'रासो साहित्य विमर्श',*** साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1962
- गौड़, रामशरण- ***'मध्यकालीन काव्य : समीक्षा कोश',*** कादम्बरी प्रकाशन, 1992 ई.
- चतुर्वेदी, परशुराम- ***'भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा',*** हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1965
- चतुर्वेदी, परशुराम- ***'हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यानक',*** हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई, 1965
- चतुर्वेदी, रामस्वरूप- ***'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास',*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007
- चन्द्र, सतीश- ***'मध्यकालीन भारत : राजनीति, समाज और संस्कृति',*** ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, 2010
- चाटुर्ज्या, सुनीति कुमार- ***'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
- चेलीशेव, ई.पी.- ***'भारतीय साहित्य की समस्याएं',*** अनु. एवं संपा. केवल गोस्वामी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987
- चौधरी, सुरेन्द्र- ***'इतिहास : संयोग और सार्थकता',*** सं. उदय शंकर, अंतिका प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
- झा, डी.एन.- ***'प्राचीन भारत : एक रूपरेखा',*** मनोहर पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2010
- टैगोर, रवीन्द्रनाथ- ***'रवीन्द्रनाथ के निबंध (खण्ड-2)',*** अनु. अमृत राय, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 2009
- तलवार, वीर भारत- ***'सामना : रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध',*** वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2005
- थापर, रोमिला- ***'भारत का इतिहास',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

- थापर, रोमिला- ***'पूर्वकालीन भारत : आरम्भ से 1300 ई. तक',*** अनु. आदित्य नारायण सिंह, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, 2009
- दास, श्यामसुन्दर (सं.)- ***'कबीर ग्रंथावली',*** नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2000
- द्विवेदी, गणेश प्रसाद- ***'हिन्दी संतकाव्य संग्रह',*** हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1974
- द्विवेदी, मुकुन्द (सं.)- ***'हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, (11 खंड)',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद- ***'कबीर',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद- ***'साहित्य सहचर',*** नैवेद्य निकेतन, वाराणसी, 2005
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद- ***'नाथ सम्प्रदाय',*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद- ***'मध्यकालीन बोध का स्वरूप',*** पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़, 1970
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद- ***'मध्यकालीन धर्म साधना',*** साहित्य भवन प्रा.लि., इलाहाबाद, 2003
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद- ***'सूर-साहित्य',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद- ***'अशोक के फूल',*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद- ***'कुटज',*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007
- नवल, नन्दकिशोर (सं.)- ***'बीसवीं शती : हिन्दी की कालजयी कृतियां',*** रेनबो पब्लिशर्स, दिल्ली, 2004
- नारायणदास, संत कविरत्न स्वामी- ***'श्री दादूपंथ परिचय',*** पुष्कर श्री दादू महाविद्यालय, मोती डूंगरी रोड, जयपुर, 2036 वि.

❖ निकल्सन, एनाल्ड ए.- ***'इस्लाम के सूफी साधक',*** अनु. श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, मित्र प्रकाशन प्रा.लि., इलाहाबाद, 1978

❖ पाठक, शिवसहाय- ***'हिन्दी सूफी काव्य का समग्र अनुशीलन',*** राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1978

❖ पाण्डेय, चंद्रबली- ***'तसव्वुफ अथवा सूफी मत',*** सरस्वती मंदिर जतनबर, वाराणसी, 1966 ई.

❖ पाण्डेय, मैनेजर- ***'भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य',*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

❖ पाण्डेय, मैनेजर- ***'साहित्य और इतिहास दृष्टि',*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

❖ पाण्डेय, मैनेजर- ***'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका',*** हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2006

❖ पाण्डेय, श्याम मनोहर- ***'सूफी काव्य विमर्श',*** विनोद पुस्तक मंदिर, दिल्ली, 1968 ई.

❖ पिंच, विलियम आर.- ***'पैजण्ट्स एंड मॉन्क्स इन ब्रिटिश इण्डिया',*** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1996

❖ पिशेल, आर.- ***'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण',*** अनु. हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1958

❖ प्रजापति, आर.एस.- ***'रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य',*** प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1984

❖ प्रेमशंकर- ***'भक्ति काव्य का समाजशास्त्र',*** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

❖ मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद- ***'हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग 1)',*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994

❖ मिश्र, शिवकुमार- ***'हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन',*** दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1978

- मिश्र, शिवकुमार- ***'भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य',*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
- मीतल, प्रभुदयाल- ***'ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास',*** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1974
- राकेश, विष्णुदत्त- ***'उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास',*** साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, 1975
- राजे, सुमन- ***'हिन्दी साहित्येतिहास (आदिकाल)',*** ग्रंथम, कानपुर, 1976
- राफाएल, मकस- ***'मार्क्सवाद कला सिद्धांत'*** कार्ल मार्क्स : कला और साहित्य चिंतन, संपा.- नामवर सिंह, अनु.- गोरख पाण्डेय, 2003
- लोरेंजेन, डेविड एन.- ***'हू इन्वेंटेड हिन्दुइज़्म',*** योडा प्रेस, नई दिल्ली, 2006
- वरदराजन, मु.- ***'तमिल साहित्य का इतिहास',*** अनु. एम. शेषन्, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1994
- वर्मा, लाल बहादुर- ***'इतिहास के बारे में',*** साहित्य उपक्रम, 2010
- वर्मा, निर्मल- ***'इतिहास स्मृति आकांक्षा',*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- वाजपेयी, अशोक (सं.)- ***'परंपरा की आधुनिकता : हजारीप्रसाद द्विवेदी',*** पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1997
- वाजपेयी, किशोरीदास- ***'हिन्दी शब्दानुशासन',*** नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2023 वि.
- स्तालिन, जोसेफ- ***'मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएं',*** परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, 2002
- सरकार, सुमित- ***'सामाजिक इतिहास लेखन की चुनौती',*** अनु. एन.ए. खाँ 'शाहिद', ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, 2001
- साही, विजयदेव नारायण- ***'जायसी',*** हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 2004

- सांकृत्यायन, राहुल- ***'हिन्दी काव्यधारा',*** किताब महल, इलाहाबाद, 1945
- सिंह, गोपेश्वर (सं.)- ***'भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार',*** भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2009
- सिंह, नामवर- ***'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग',*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971
- सिंह, नामवर- ***'पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य',*** राधाकृष्ण, नई दिल्ली, 1997
- सिंह, नामवर- ***'दूसरी परंपरा की खोज',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
- सिंह, नामवर- ***'इतिहास और आलोचना',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
- सिंह, नामवर- ***'आलोचक के मुख से',*** संपा. खगेन्द्र ठाकुर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
- सिंह, नामवर- ***'हिन्दी का गद्य पर्व',*** संपा. आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- सिंह, कुँवरपाल- ***'भक्ति आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति',*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- सिंह, बच्चन- ***'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास',*** राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008
- सिंह, योगेन्द्र प्रताप- ***'इतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य के इतिहास की समस्याएं',*** साहित्य भवन प्रा.लि., इलाहाबाद, 2006
- सिंह, सेवा- ***'भक्ति और जन',*** अमृतसर, 1998
- सेन, सुकुमार- ***'बांङ्ला साहित्य का इतिहास',*** अनु. निर्मला जैन, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 2004
- शर्मा, कैलाश चन्द्र- ***'भक्तमाल और हिन्दी काव्य में उसकी परम्परा',*** मंथन पब्लिकेशंस, रोहतक, 1983

❖ शर्मा, नलिनविलोचन- ***'साहित्य का इतिहास दर्शन',*** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1960

❖ शर्मा, रामविलास- ***'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं',*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986

❖ शर्मा, रामविलास- ***'हिन्दी जाति का साहित्य',*** राजपाल एण्ड सन्ज़, 1992

❖ शर्मा, रामविलास- ***'इतिहास दर्शन',*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995

❖ शर्मा, रामविलास- ***'भारतीय साहित्य की भूमिका',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

❖ शर्मा, रामविलास- ***'भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश (भाग 1 तथा 2)',*** किताबघर, नई दिल्ली, 1999

❖ शर्मा, रामविलास- ***'ऐतिहासिक भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा',*** संपा. राजमल बोरा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

❖ शर्मा, रामविलास- ***'लोकजागरण और हिन्दी काव्य',*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

❖ शर्मा, रामविलास- ***'भाषा और समाज',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

❖ शर्मा, रामविलास- ***'परंपरा का मूल्यांकन',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

❖ शर्मा, रामविलास- ***'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ',*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

❖ शुक्ल, अभय- ***'भक्तिकाल और हिन्दी आलोचना',*** साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, 2000

❖ हाउजर, आर्नल्ड- ***'कला का इतिहास दर्शन',*** अनु. गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2001

सहायक ग्रन्थ और लेख (English)

- Abercrombie, Nichols, Stephen Hill, and Bryan S, Turner, 'The Dominant Ideology Thesis', London

- Ali, Daud.1999. *Invoking the Past: The Uses of History in South Asia*. Delhi: OUP.

- Bourdieu, Pierre. 1990. "Reading, Readers, the Literate, Literature." In *In Other Words: Essays towards a Reflexive Sociology*. Standford: Standford University Press.

- Bhagavat Purana. 1971. Sanskrit Text with an English Translation by C. L Goswami. Gorakhpur: Gita Press.

- Bhandarkar, R. G.1965. *Vaisanavism, shaivism and Minor Religious Systems*.Varanasi: Indological Book House.

- Bayly, Susan. 1999. *Caste, Society and Politics in India from the Eighteenth Century to the Modern Age.* Cambridge: Cambridge University Press.

- Chakrabarty, Dipesh. 2000. *Provincializing Europe: Postcolonial Thought and Historical difference.* Princeton: Princeton University Press

- Chatterjee, Partha.1998. *The Partha Catterjee Omnibus*. Delhi: OUP.

- Chattopadhyaya, Brajadulal. 2005. *The Making of Early Medieval India*. Delhi: OUP.

- Crane, R.S. 1972. *Critical and Historical Principles of Literary History*. Chicago: University of Chicago press.

- De, Sushil Kumar. 2006. *History of Sanskrit Poetics*. Delhi: Oriental Book Centre.

- Dev, Amiy (Ed.). 1992. Literary Historiography in India, Vol.-I, DSA Comprative Literarture, Jadavpur University, Kolkata.

- Dirks, Nicholas B. 2010. *Castes of Mind: Colonialism and The Making of Modern India*. Delhi: Permanent Black.

- Eagleton, Terry. 1983. *Literary Theory: An Introduction*. Oxford: Blackwell.

- Gold, Daniel. 1992. "What the Merchant-Guru Sold: Social and Literary Types in Hindi Devotional Verse." *Journal of American Oriental Society* 112, no.1: 22-35.
- Gramsci, Antonio. 1971. *Selections from the Prison Note Books*. Tr. Quintin Hoare and Geoffrey Nowell Smith. New York: International Publisher.
- Guha, Ranjit. Ed. 1994. *Subaltern Studies VI: Writing on South Asian History and Society*. Delhi: OUP.
- Guha, Ranjit.2002. *History at the Limit of World History*. Columbia: Columbia University Press.
- Habib, Irfan. 2010. "Braj Bhum in Mughal Times", in *Papers from The Aligarh Historians Society; Indian History Congress: 70th Session*, Delhi University, Delhi. Ed. Irfan Habib.292-308.
- Habib, Irfan. 2010. *Essayes in Indian History: Towards a Marxist Perception*. Delhi: Tulika.
- Habib, Irfan and Raychudhuri, Tapan.(Ed.) 1984. *The Cambridge Economic History of India, Vol. I c.1200- c.1750*. Delhi: Orient Longman.
- Hawley, John Stratton. 1988. *Songs of the Saints of India*. New York: OUP.
- Hook, Sydney. 1963. *Philosophy and History,* New York University Press, New York.
- Jhaveri, Mansukhlal.1978. History of Gujarati Literature. New Delhi: Sahitya Akademi.
- Kato, Shuichi. 1979. A History of Japanese Literature, Palgrave Macmillan, United Kingdom.
- Kulke Hermann (Ed.). 1997. *The State in India: 1000-1700*. Delhi: OUP.
- Lorenzen, David N.1981. "The Kabir Panth: Heretics to Hindus." In *Religious Changes and Cultural Domination*, edited by David N. Lorenzen. Mexico: El Colegio de Mexico.
- Lorenzen, David.1983. "The Life of Sankaracarya" In *Experiencing Siva: Encounters With a Hindu Deity,* edited by Fred W. Clothey and J. Bruce Long, 155-75. Columbia, Mo: South Asia Books.

- Lorenzen, David.2000.Tradition of Non-cast Hinduism: The Kabir-Panth" in *'Who Invented Hinduism: Essays on Religion in History'*, New Delhi: Yoda Press.

- Lorenzen, David.1987. "The Social Ideologies of Hagiography: Sankara, Tukara and Kabir." In *Religion and Society in Maharastra, edited by Milton Israel and N.K. Wagile,* 92-114. Toronto: University of Toronto, Centre for South Asian Studies.

- Mittal, Prabhudayal. 1974. *Brij ke Dharma- Sampradayon ka Itihaas.* New Delhi: National Publishing House.

- Perkins, David.1992. *Is Literary History Possible*. Baltimor and London: The John Hopkins University Press.

- Richman, Paula.(ed.). 1994. *Many Ramayanas: The Diversity of a Narrative Tradition in South Asia*. Delhi: OUP.

- Schomer, Karine, and W.H. McLeod, eds.1987.*The Sants: Studies in a Devotional Tradition of India*. Delhi: Motilal Banarsidas.

- Thapar, Romila.2000. *History and Beyond*. Delhi: OUP.

- Thapar, Romila. 1996 *Time as a metaphor of History : Early India,* Vol. I, II, Oxford University press, Delhi.

- Weber, Max.1958. *The Religion of India: The Sociology of Hinduism and Buddhism.* Translated and edited by Hans H. Gerth and Don Martindale. New York: The Free Press.

- Wellek, Rene. 1982. "The fall of Literary History" in *The attack on Literature and Other Essayes*. Chappel Hill: University of North Carilona Press.

- Wellek, Rene. 1970. *"Discriminations : Further Concepts of Criticism"*, New Haven and London : Yale University Press.

पत्र-पत्रिकाएँ

- आलोचना (त्रैमासिक), सहस्राब्दी अंक 10-11, जुलाई-दिसम्बर, 2002, राजकमल, नई दिल्ली
- आलोचना (त्रैमासिक), सहस्राब्दी अंक 31, अक्टूबर-दिसम्बर, 2008, राजकमल, नई दिल्ली
- उद्‌भावना-84, जुलाई-अगस्त, 2009, दिल्ली
- रोमिला थापर- हिस्टोरिकल मेमोरी विदाउट हिस्ट्री, ई.पी. डब्ल्यू, 29 सितंबर- 5 अक्टूर, 2007
- संजय सुब्रह्मण्यम- मेकिंग सेंस ऑफ इंडियन हिस्ट्रीओग्राफी, इंडियन इकोनोमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, अप्रैल-सितंबर, 2002, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली
- समसामयिक सृजन, अप्रैल-जून 2012, दिल्ली
- युद्धरत आम आदमी, पूर्णांक 55 (2001), पूर्णांक 61 (2002), दिल्ली
- Social Scientist, Vol.-23, October-December, 1995

अन्य

- www.jstor.com
- Digital libary of India
- राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली